ISSN 2229-6328

भाग - अष्टात्रिंश, प्रथम खण्ड

ॐ पावमानी

त्रैमासिकी मूल्याङ्किता वैदिक शोधपत्रिका



वेदों के वैज्ञानिक सिद्धान्त

भाग - द्वितीय

ISSN 2229-6328

ओ३म्

प्रेरणास्रोत : प. पू. स्व. स्वामी समर्पणानन्द जी महाराज

पावमानी

त्रैमासिकी मूल्याङ्किता (Peer Reviewed) वैदिक शोधपत्रिका

भागः अष्टात्रिंश, प्रथम खण्ड (वि. सं. २०७९)

वेदों के वैज्ञानिक सिद्धान्त - भाग - द्वितीय

प्रकाशक

स्वामी समर्पणानन्द वैदिक शोध संस्थान

गुरुकुल प्रभात आश्रम, टीकरी, भोला, मेरठ- २५०५०१

जन. - मार्च. २०२३ **मूल्य १००.००**

एक प्रति का मूल्य	...	१०० रु०
वार्षिक सदस्यता शुल्क	...	४०० रु०
आजीवन सदस्यता शुल्क	...	२००० रु०
आजीवन सदस्यता शुल्क (छात्रों हेतु)	...	१५०० रु०
आजीवन सदस्यता शुल्क (संस्था हेतु)	...	५००० रु०
सहयोगी सदस्यता शुल्क	...	५५०० रु०
संरक्षक सदस्यता शुल्क	...	१०००० रु०
परामर्शक सदस्यता शुल्क	...	११००० रु०

आभार

पावमानी के इस अङ्क का सम्पूर्ण व्ययभार आश्रम के प्रति एकनिष्ठ स्व. माता प्रकाशवती जी की प्रेरणा से रस्तौगी प्रकाशन, मेरठ, उ.प्र. ने वहन किया।

• स्वत्वाधिकारी, प्रकाशक, मुद्रक

स्वामी समर्पणानन्द वैदिक शोध संस्थान

गुरुकुल प्रभात आश्रम, टीकरी, भोला,

मेरठ - २५०५०१ (उ.प्र.)

दूरभाष : ८००६७०२५५१

अणुवाक्:

pavamani86@gmail.com

• **पावमानी**- ISSN२२२९-६३२८

भाग: अष्टात्रिंश, प्रथम खण्ड

जन.-मार्च २०२३

• प्राप्ति स्थान-

गुरुकुल प्रभात आश्रम, टीकरी, मेरठ

• मुद्रक

रस्तौगी प्रकाशन, मेरठ (उ.प्र.)

• प्रेरणास्रोत :

प.पू. स्व. श्री स्वामी समर्पणानन्द सरस्वती

• प्रधान सम्पादक

स्वामी विवेकानन्द सरस्वती

• सम्पादक

प्रो. सोमदेव शतांशु

०९८३७६४७४२७

डॉ. वाचस्पति मिश्र

०९३१९००२४०२

• **कल्पादितः** १,९७,२९,४९१२३ गते

• **सृष्टि आदितः** १,९६,०८,५३१२३ गते

• **युगाब्द** ५१२४

• **दयानन्दाब्द** १९८

सम्पादकीयम्

मनुष्य संसार के श्रेष्ठतम प्राणी है। इसकी श्रेष्ठता का आधार मननशीलता है। यदि मनुष्य चिन्तन एवं मनन करके कार्यों में प्रवृत्त नहीं होता तो मनुष्य एवं मनुष्येतर प्राणियों में कोई भेद नहीं रह जाता। मनुष्य की चिन्तनशीलता एवं मननशीलता का आधार उसका ज्ञान है। ज्ञान ही मनुष्य के सर्वविध आनन्द एवं ऐश्वर्य का मूल कारण है तथा अज्ञान सभी प्रकार के कष्टों एवं समस्याओं का। जिस प्रकार प्रदीप्त अग्नि अनायास ही काष्ठसमूह को भस्मीभूत कर देता है, उसी प्रकार ज्ञानाग्नि सकल समस्याओं के कारणभूत अज्ञान को भस्मीभूत कर देती है। सृष्टि के आदि में परमात्मा ने संसार के प्राणियों की सर्वविध उन्नति एवं कल्याण के लिए वेदज्ञान प्रदान किया। वेद अनादिकाल से प्राणिमात्र के पथप्रदर्शक रहे हैं। जिस प्रकार वृक्ष एवं उसकी समस्त शाखाओं का आधार वृक्ष की मूल (जड़) होती है, उसी प्रकार संसार में व्यवह्रियमाण समस्त प्रकार के ज्ञान का मूल भी वेद ही है। वेद सम्पूर्ण मानव जाति के संविधानपरक काव्य हैं। इनमें प्राणी समूहों के सर्वविध करणीय एवं अकरणीय कार्यों का उल्लेख प्राप्त होता है। महर्षि मनु मनुस्मृति में लिखते हैं-

यः कश्चित् कस्यचिद् धर्मो मनुना परिकीर्तितः।
स सर्वोऽभिहितो वेदे सर्वज्ञानमयो हि सः ॥ मनु० २.७

दैनिक जीवन में उपयोगी व्यवहारिकज्ञान के साथ-साथ विज्ञान का वर्णन भी वेदों में विस्तार से प्रतिपादित किया गया है। इसीलिए प्राचीन शिक्षा व्यवस्था में वेदों का पठन-पाठन अनिवार्यरूप से किया जाता था। किन्तु कालान्तर में आलस एवं प्रमाद से जन्य दोषों के कारण मानव ने वेदों का पठन-पाठन छोड़ दिया, जिसके दुष्परिणाम आज हम सबके समक्ष हैं।

वेद का ज्ञान अथाह और अनन्त है। इस विषय में तैत्तिरीय ब्राह्मण में एक आख्यान प्राप्त होता है कि महर्षि भरद्वाज ने तीन जन्मों तक सम्पूर्ण जीवन ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करते हुए वेदों का ही अध्ययन किया। आसन्न मृत्युकाल में मृत्युशय्या पर लेटे हुए महर्षि भरद्वाज से देवराज इन्द्र ने पूछा कि मैं तुम्हें चौथा जन्म और दे दूँ तो तुम उस जन्म में क्या करोगे? प्रत्युत्तर में महर्षि भरद्वाज बोले- मैं उस जन्म में भी आजन्म ब्रह्मचारी रहकर वेदों का अध्ययन करूँगा। इन्द्र ने महर्षि भरद्वाज को तीन विशाल पर्वत दिखाए और कहा कि इन पर्वतों की भाँति वेद विशाल हैं। इन्द्र तीनों पर्वतों से एक-एक मुट्ठी लेकर महर्षि भरद्वाज से पुनः बोले कि तुमने तीन जन्मों में इस अनन्त विशाल ज्ञान पर्वतों से यह मुट्ठी भर ज्ञान प्राप्त किया है। अधिकांश भाग तो तुम्हारे लिए अज्ञात ही रह गया है।

निश्चित ही वेद असीम, अनन्त, अलौकिक, सार्वभौम ज्ञान के भण्डार हैं। इस ज्ञाननिधि में हम जितना अधिक निमज्जन करेंगे, उतने ही अधिक रत्न समूह को हमें प्राप्त होंगे। षडङ्ग सहित वेद के अध्ययन से ही मानव मुक्ति को प्राप्त कर सकता है -

तस्मात् साङ्गमधीत्यैव ब्रह्मलोके महीयते।

जिस प्रकार अविरल प्रवाहित होने वाली प्राकृतिक रूप से निर्मल

गङ्गा प्रदूषित तत्त्वों के सम्पर्क में आ जाने का कारण कलुषित हो जाती है, उसी प्रकार से शाश्वत ज्ञानप्रवाह की गङ्गा (वेद) भी पाश्चात्य तथा पाश्चात्य लेखकों का अन्धानुकरण करने वाले भारतीय विद्वानों के प्रदूषित विचारों के कारण कलुषित प्रतीत होने लगी थी किन्तु स्वामी दयानन्द सरस्वती एवं स्वामी समर्पणानन्द सरस्वती जैसे आचार्यों ने अपनी सशक्त लेखनी एवं प्रबल प्रमाणों से वेदों का यथार्थ स्वरूप उपस्थापित कर वेदों के गौरव का संवर्धन किया।

महर्षि दयानन्द सरस्वती ने वेदों को सब सत्य विद्याओं की पुस्तक सिद्ध किया। ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के वेदविषय विचार में महर्षि दयानन्द सरस्वती लिखते हैं कि वेद में मुख्यतः चार विषय हैं-

१. विज्ञान काण्ड

२. कर्मकाण्ड

३. उपासनाकाण्ड

४. ज्ञानकाण्ड।

विज्ञान उसको कहते हैं कि जो कर्म, उपासना और ज्ञान इन तीनों से यथावत् उपयोग लेना और परमेश्वर से लेके तृणपर्यन्त पदार्थों का साक्षाद् बोध का होना, उनसे यथावत् उपयोग का करना, इससे यह विषय इन चारों में प्रधान है क्योंकि इसी में वेदों का मुख्य तात्पर्य है। महर्षि दयानन्द सरस्वती ने ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के ही विविध प्रकरणों में नौविमानविज्ञान, आयुर्विज्ञान, ताराविज्ञान, सृष्टिविज्ञान, गणितविज्ञान आदि विविध विषयों की वेदमूलकता प्रतिपादित की है।

पावमानी के इस अङ्क में श्रावण शुक्ल एकादशी को वेदों के उद्भट विद्वान् पूज्य **स्वामी समर्पणानन्द सरस्वती** के पावन जन्मदिन के अवसर पर **वेदानां वैज्ञानिकसिद्धान्ताः** विषय पर आयोजित शोध सङ्गोष्ठी में

पठित लेखों का प्रकाशन किया जा रहा है। इन लेखों के माध्यम से श्रुतिप्रेमी सज्जन वेद प्रतिपादित ज्ञान विज्ञान से परिचित एवं लाभान्वित होंगे। पावमानी का यह अङ्क वैदिक ज्ञान-विज्ञान का बोध कराकर जनता जनार्दन को वेदाध्ययन के प्रति प्रेरित करने वाला हो, परमपिता परमेश्वर से यही प्रार्थना है।

प्रो० सोमदेव शतांशु

अनुक्रमणिका



सम्मेलन के अध्यक्ष वेदमर्मज्ञ परम पूज्य

स्वामी विवेकानन्द सरस्वती जी महाराज

(कुलाधिपति, गुरुकुल प्रभात आश्रम, मेरठ)

अध्यक्षीय उद्बोधन करते हुए।

मञ्झावली गुरुकुल में वेद-विज्ञान विषयक अध्यक्षीय उद्बोधन



अक्टूबर मास की ७, ८, ९ दिनाङ्क को श्रीमद्दयानन्द वेदार्ष महाविद्यालय-न्यास द्वारा सञ्चालित शाखा सं.-२, गुरुकुल यमुनातट मञ्झावली, फरीदाबाद, हरियाणा का रजत जयन्ती समारोह भव्य रूप से आयोजित किया गया। इस अवसर पर ७ अक्टूबर को वेद-विज्ञान सम्मेलन का कार्यक्रम का आयोजन हुआ। सम्मेलन के अध्यक्ष वेदमर्मज्ञ परम पूज्य स्वामी विवेकानन्द सरस्वती जी महाराज (कुलाधिपति,

गुरुकुल प्रभात आश्रम, मेरठ) के अध्यक्षीय उद्बोधन का सम्पादित लेख-रूप आपके सम्मुख प्रस्तुत है-

ओ३म् ये ते पवित्रमूर्मयोऽभिक्षरन्ति धारया। तेभिर्नः सोम मृळय॥
पवमानस्य ते वयं पवित्रमभ्युन्दतः। सखित्वमा वृणीमहे॥[१]

७५ वर्षीय युवा संन्यासी आदरणीय स्वामी प्रणवानन्दजी महाराज, मञ्चासीन विद्वद्-वृन्द, वेदप्रेमी सज्जनों! आज के इस सत्र का विषय अत्यन्त संवेदनशील है। जिस पर सभी विद्वानों ने अपने विचार रखे। यहाँ प्रस्तुत किये गए विचारों के विषय में वेदविज्ञान सम्मेलन के अध्यक्ष की दृष्टि से मुझे कुछ कहना चाहिए, किन्तु मैं नहीं कहूँगा। मैं तो अपनी थोड़ी-सी बात कहूँगा।

बहुत समय पूर्व वेदों के बड़े अच्छे विद्वान् हुए- पण्डित शिवशङ्कर शर्मा काव्यतीर्थ। वेदों में निहित अनेक विषयों को रखते हुए उन्होंने एक पुस्तक लिखी थी जिसका नाम है 'वैदिक विज्ञान।' यह पुस्तक दो-तीन भागों में है। वर्षों पूर्व जब मैं बिहार में था, तब मैंने यह पुस्तक पढ़ी थी। पुस्तक को पढ़कर मुझे लगा कि यह व्यक्ति वेद के मर्म को जानता होगा। मैंने चर्चा की कि मैं ऐसे ही व्यक्ति से वेद पढ़ना चाहता हूँ। उस समय उनका देहान्त हो चुका था। तब किसी ने मुझे बताया कि इस समय इस धरती-तल पर एक ही विद्वान् है, उनका नाम है पण्डित बुद्धदेव विद्यालङ्कार। संन्यास के बाद इनका नाम स्वामी समर्पणानन्द हुआ। यदि आप वेद पढ़ना चाहते हैं तो उनके पास जाइए। खैर यात्रा लम्बी हुई, फिर उनके चरणों में आया, यह तो अपना इतिहास हो गया।

उन्हीं से सम्बन्धित एक संस्मरण में गुरुकुल काङ्गड़ी के ही वरिष्ठ

---

[१] सामवेदसंहिता, उत्तरार्चिक

स्नातक श्री सत्यव्रत सिद्धान्तालङ्कार ने लिखा है कि एक बार मैं रेल से बम्बई जा रहा था। सौभाग्यवश, उसी डिब्बे में पण्डित बुद्धदेव जी भी बैठे हुए थे। वेद के सम्बन्ध में उनकी ख्याति थी। चर्चा चली तो मैंने (सिद्धान्तालङ्कार ने) उनसे (पण्डित जी से) प्रश्न कर दिया कि क्या वेद में विज्ञान है, आप मानते हैं? सिद्धान्तालङ्कार ने संस्मरण में यह साक्षात् लिखा है। इस प्रश्न का उत्तर देते हुए पण्डित बुद्धदेव जी ने कहा कि वेद में क्या नहीं है, अर्थात् सब कुछ है। रही बात वेदों में विज्ञान की, तो आधुनिक समय में जिसे विज्ञान कहा जा रहा है, यह तो बहुत छोटा-सा विज्ञान है, यह तो नश्वर (अनित्य) विज्ञान है। क्योंकि परमात्मा का ज्ञान यदि वेद है तो परमात्मा तो अनन्त है तो वेदों के साढे बीस हजार मन्त्र मात्र ही ज्ञान है परमात्मा का? नहीं। इसका समाधान करते हुए उन्होंने (पण्डित जी ने) कहा कि क्या है जो वेदों में नहीं है। आज के समय में हम जिसे विज्ञान मान रहे हैं, वह तो नश्वर (अनित्य) है।

फ्रांस में आइंस्टीन का स्वागत समारोह आयोजित हुआ। स्वागत समारोह के अध्यक्ष थे - बर्नार्ड शॉ। नाम आप सुने होंगे। आइंस्टीन का व्याख्यान हो गया। अध्यक्षीय व्याख्यान बोलने के लिए थोड़ा-सा सम्बोधन करने के बाद बर्नाड शॉ ने कहा कि तुम सभी वैज्ञानिक लोग झूठ बोलते हो, धार्मिक वैज्ञानिक सत्य बोलता है। यह सुनते ही सभा में सन्नाटा छा गया। अरे! एक वैज्ञानिक का सम्मान समारोह है और उसके अध्यक्ष बोल रहे हैं कि ये वैज्ञानिक झूठ बोलते हैं। इस पर आइंस्टीन ने पूछा कि आपकी बात हमारी समझ में नहीं आई। आप कहना क्या चाह रहे हो? तब जार्ज बर्नार्ड शॉ ने कहा कि इसमें न समझने वाली कोई बात नहीं है। तुम वैज्ञानिक जो विज्ञान सिद्ध करते हो, आज प्रातःकाल कहते

हो ये विज्ञान है, सायंकाल कहते हो ये गलत है, ये सही है। यही तो होता है आपके विज्ञान में। अगले दिन फिर कहते हो ये गलत है, ये सही है। फिर अगले दिन से अगले दिन ये गलत है कहते हो। तुम तो झूठ बोलते हो किन्तु धार्मिक अनेक युगों से कहता आ रहा है कि ईश्वर है, आज भी वही बात करता है कि ईश्वर है। वो तो बात नहीं बदलता है। आज के विज्ञान में ऐसी समस्याएं हैं।

एक बार मैं गङ्गनहर के तट पर घूम रहा था और मन में विचार कर रहा था कि परमात्मा सर्वव्यापक है तो इसका ज्ञान भी सर्वव्यापक होना चाहिए। अरे! हमारे शरीर की अपेक्षा हमारा ज्ञान अधिक विस्तृत है। जितना हमारा शरीर है, उतना ही तो हम नहीं जानते हैं और भी बहुत कुछ जानते हैं। इसी प्रकार परमात्मा तो सर्वव्यापक है, अतः उसका ज्ञान सीमित कैसे हो सकता है? सोचते-सोचते फिर आकाश में सैकड़ों पक्षियों को एक साथ पंक्ति में उड़ते हुए देखकर मुझे ध्यान आया कि इन पक्षियों ने तो ऋग्वेद नहीं पढ़ा है, इनको संगच्छध्वम् किसने पढ़ाया? और ऋग्वेद में आया है **संगच्छ्ध्वम्, संवदध्वम्**[२]। उस परमात्मा का ज्ञान सर्वव्यापक है, इसलिए सभी प्राणियों को नैसर्गिक रूप में या किसी न किसी रूप में ज्ञान मिला है।

आज जो भौतिक विज्ञान को देखकर "वेद में यह है, यह है" कहते हैं। अरे! सबकुछ वेद में मानकर केवल आधुनिक भौतिक विज्ञान के तथ्यों को वेद में खोजोगे तो कल जब भौतिक विज्ञान के सिद्धान्त खण्डित होंगे तो आपका वेद अनित्य हो जाएगा। कल जब इनका सिद्धान्त गलत होगा तो फिर आपके वेद का क्या होगा? बात समझ

[२] ऋग्वेदसंहिता १०/१९१/२

आई, आप सभी पढ़ते ही हैं कि वैज्ञानिकों ने यह सिद्ध किया। अगले दिन कहते हैं कि यह ठीक नहीं, यह ठीक है। इससे तो वेद में अनित्यत्व-दोष आ जाएगा और आपका वेद असत्य हो जाएगा।

जैसा कि मैं कह रहा था कि 'वेद में विज्ञान है' यह सिद्ध करने के लिए 'वेद नित्य है' यह स्थापना करते हुए 'वेद में विज्ञान' को सिद्ध करना पड़ेगा। जैसे स्वामी प्रणवानन्द जी ने मुझे इस वेदविज्ञान सम्मेलन का अध्यक्ष बना दिया, ऐसे ही कुछ श्रद्धालुओं ने सन् १९७९-८० में मेरठ में आयोजित वेद सम्मेलन का अध्यक्ष मुझे बना दिया था। मैंने स्वामी जी से बहुत मना किया। स्वामी जी तो लोकव्यवहार कुशल हैं। पहले तो समय दिया। ये जाते रहते हैं आश्रम में। फिर कई दिन के बाद उन्होंने कहा जो वेद सम्मेलन होगा उसमें अध्यक्षता आपको करनी है। मैंने कहा कि इतने बड़े बड़े विद्वान् आ रहे हैं, मैं अध्यक्षता करूं? ये तो धृष्टता होगी। किन्तु इन्होंने कहा। अब मैं इनको मना नहीं कर सकता था। ऐसे ही श्रद्धालुओं ने मुझे तब घेर लिया, और कहा आप अध्यक्ष रहेंगे। ऐसा वेद सम्मेलन, जिसमें स्वामी सत्यप्रकाश जी जैसा व्यक्ति वक्ता था। वे तो रसायन विज्ञान के अपने ढंग के बड़े सुलझे हुए व्यक्ति थे। उनका जीवन दूसरे ढंग का था। रज्जु भैया ने स्वामी सत्यप्रकाश जी के विषय में लिखा है कि प्रयाग विश्वविद्यालय में पढ़ाते हुए धोती-कुर्ता और चप्पल में वे विश्वविद्यालय की कक्षाओं में पढ़ाने के लिए जाते थे। विश्वविद्यालय में, रसायन विज्ञान का प्राध्यापक - प्रोफेसर धोती और कुर्ता, कभी-कभी तो बिलकुल ऐसे ही, कुर्ता भी नहीं पहनते थे। ऐसा विलक्षण व्यक्तित्व वक्ता के रूप में उपस्थित हो तो अध्यक्ष के मन में संशय स्वाभाविक है। स्वामी जी का अपना चिन्तन था। अध्यक्षीय भाषण में मैंने स्वामी सत्यप्रकाश जी को सम्बोधित कर कहा कि वेद में **'अग्निरथ'** शब्द आया

है। वेद में आए विमान शब्द का तो 'विशेष मान युक्त' ऐसा अन्यथा अर्थ कर देंगे, किन्तु 'अग्निरथ' शब्द का क्या अर्थ करेंगे?

प्रत्येक समय में विज्ञान के प्रकट होने की अलग-अलग विधाएँ होती हैं, जैसे आज विमान पेट्रोल से चलते हैं, क्या त्रेतायुग में भी विमान पेट्रोल से चलते थे? तभी तो कम्युनिस्ट पूछता है कि विमान की बात तो तुम करते हो, फिर पेट्रोल पम्प कितने थे? क्योंकि उसकी बुद्धि केवल इतना ही सोच पाती है कि विमान पेट्रोल से ही चलेगा, कोई और विधा नहीं है। किन्तु ऐसा नहीं है। विज्ञान की अनेक विधाएँ हैं, उनमें से एक है मनोविज्ञान। अर्थात् मन की शक्ति से भी विमान चल सकता है, यदि आविष्कार हो तो।

अभी स्वामी आत्मानन्द जी की चर्चा किसी ने की थी। स्वामी आत्मानन्द जी ने मन की शक्ति की चर्चा की है। इसलिए पेट्रोल से नहीं किन्तु उस समय विमान के विकसित होने की कोई और विधा थी। उन विधाओं को सोचते हुए ऋषियों ने यह ज्ञान दिया है।

मनुस्मृति के प्रायश्चित्त प्रकरण में मनु ने कहा है- **'महायन्त्रप्रवर्तनम्'**[३]। अर्थात् बड़े-बड़े यन्त्रों का निर्माण करना भी पाप है। अर्थात् इसे पाप माना गया है। क्योंकि इससे अनेक समस्याएँ आ खड़ी होंगी, जैसे आज खड़ी हैं।

योगी अरविन्द जी से किसी ने पूछा कि स्वामी दयानन्द ने वैदिक विज्ञान के विषय में बहुत कुछ कहा है। तब अरविन्द जी ने उत्तर दिया कि स्वामी दयानन्द ने जो कुछ कहा है, उसमें अतिशयोक्ति नहीं, किन्तु न्यूनोक्ति ही है। अर्थात् वेद का विज्ञान इससे भी आगे है। इस पर शोध

---

[३] मनुस्मृति ११/६३

करने की बड़ी भारी आवश्यकता है।

महाराज जी ने इस सम्मेलन का नाम वेदसम्मेलन नाम रखा है। एक बार हमने भी प्रभात आश्रम में सन् १९८२ में वेदसम्मेलन किया था। इसके बाद तो शोध-गोष्ठियां होती हैं। सम्मेलनादि नहीं, बड़ा ही झगड़ा है। तब शोध-गोष्ठी के रूप में बदल दिए जाने पर कुछ ने वेदसम्मेलन के लिए कहा तो मैंने उनसे कहा कि वेद को मिलाएंगे आप? इसका अभिप्राय तो यही हुआ कि वेद अलग-अलग हैं, एक साथ मिलाएंगे आप। इसीलिए मैंने इसका समाधान निकाला और वेदसम्मेलन हटा दिया। वेद को समझो मात्र।

मैं अपनी बात एक शतपथब्राह्मण की कथा से कहता हूँ कि परमात्मा सर्वव्यापक है। उसका सर्वव्यापक ज्ञान साढ़े बीस हजार मन्त्रों में किस प्रकार समाविष्ट होगा। ऋषि-महर्षि किसी भी बात को कथा के माध्यम से समझाने का प्रयास करते थे। शतपथब्राह्मण के प्रथम अध्याय के चतुर्थ ब्राह्मण में ज्ञानरुपी मृग का दृष्टान्त आया है-

अथ कृष्णाजिनमादत्ते। यज्ञस्यैव सर्व्वत्वाय यज्ञो ह देवेभ्योऽपचक्राम स कृष्णो भूत्वा चचार तस्य देवाऽ अनुविद्य त्वचमेवावच्छायाजह्रुः।[४]

तस्य यानि शुक्लानि च कृष्णानि च लोमानि तान्यृचां च साम्नां च रूपं यानि शुक्लानि तानि साम्नाꣳ रूपं यानि कृष्णानि तान्यृचां यदि वेतरथा यान्येव कृष्णानि तानि साम्नोꣳ रूपं यानि शुक्लानि तान्यृचां यान्येव बभ्रूणीव हरीणि तानि यजुषाꣳ रूपम्[५]**।**

जिसका भाष्य करते हुए पूज्य स्वामी समर्पणानन्द जी महाराज ने

[४] शतपथ ब्राह्मण १/४/१

[५] शतपथ ब्राह्मण १/४/२

लिखा है कि ज्ञान रूपी मृग भाग रहा था, तो ऋषियों ने उसे पकड़ा, किन्तु मृग तो हाथ में आया नहीं, उसकी चमड़ी हाथ में आयी। चर्म सारे शरीर से निकला है, इसलिए उसमें सारा शरीर आ गया या नहीं। इसीलिए मृगचर्म यहाँ सारे ज्ञान का प्रतीक है। इस पर जो रेखाएँ हैं, वे ऋग्वेद हैं, यजुर्वेद हैं, सामवेद हैं।[६] यदि आप शरीर को चमड़ा कहते हैं तो मृगचर्म सारे ज्ञान का प्रतीक है। इसीलिए हमारे पास जो यह वेद आया है, यह सम्पूर्ण है, क्योंकि जैसे चमड़ा सम्पूर्ण शरीर को आवृत किये रहता है, उसी प्रकार से यह सारा ज्ञान सम्पूर्ण है। यह हमारे ऊपर निर्भर करता है कि हम कितना खोज पाते हैं। अब ये वैज्ञानिक सर्वव्यापक ज्ञान में से अपने ढंग से खोज कर रहे हैं। किन्तु वैदिक विद्वानों को सावधान रहना पड़ेगा कि इस आधुनिक वैज्ञानिकों की पद्धति से बाह्य विज्ञान वेद में दिखाने का प्रयास करेंगे तो कल जब यह सिद्धान्त गलत होगा तो आपके वेद का क्या होगा? यह भी ध्यान में रखना है।

हमारे एक अच्छे विद्वान् हैं, वह घड़ी बनाना जानते थे। सन् १९६९ की बात है, उन्होंने मुझे पकड़ लिया। और कहा कि वर्णोच्चारण शिक्षा में तो घड़ी बनाने की विधि लिखी हुई है। मैं तो चौंका क्योंकि इससे पहले तो मैंने कभी सोचा भी नहीं था। उन्होंने बोला -

आत्मा बुद्ध्या समेत्यर्थान् मनो युङ्क्ते विवक्षया।
मनः कायाग्निमाहन्ति, स प्रेरयति मारुतम्।
मारुतस्तूरसि चरन्मन्दं जनयति स्वरम्।[७]

फिर श्लोक के अनुसार उन्होंने वर्णोच्चारण विधि से घड़ी बना कर

---

[६] विस्तार से जानने के लिए स्वामी समर्पणानन्द जी का शतपथ ब्राह्मण का भाष्य देखें।
[७] वर्णोच्चारणशिक्षा

मुझे दिखाई। मैंने तो उनसे कहा कि हमारे तो बड़े-बड़े विद्वान् हैं, उनको तो यह सूझ नहीं रहा और आपने **मनः कायाग्निमाहन्ति स प्रेरयति मारुतम्**[८] से घड़ी बना दी। इसलिए आप अपनी आर्षदृष्टि से देखिए, दूसरों की दृष्टि से नहीं।

वेद आपके मन में है। वेद कहता है **यस्मृन्नचः साम यजूंषि यस्मिन् प्रतिष्ठिता रथनाभाविवाराः।**[९] कस्मिन्? मम मनसि। जिस मन के अन्दर ये ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद हैं, उस मन में वह रखा हुआ है। अच्छा! यहाँ कोई आपमें से ऐसा बैठा है, जिसको लगता है कि उसके पास मन नहीं है। है कोई ऐसा? कोई नहीं। सभी के पास मन है। और मन है तो आपके पास वेद है। क्योंकि वेद कहता है **यस्मृन्नचः साम यजूंषि**। अर्थात् जिस मन के अन्दर ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद विद्यमान हैं। हमारे मन के अन्दर जो वेद रखे हुए हैं, तत्त्वदर्शियों ने उन्हें पढ़ा और ये वेद प्रदान किये।

परमात्मा आपके अन्दर वेद के प्रति अनुराग उत्पन्न करें। यदि मन में अनुराग रहेगा तो कितने ही शक, हूण, मुहम्मद गजनी और मुहम्मद गौरी आएं किन्तु आपको विनष्ट नहीं कर पाएंगे। आज आप खण्डित हो गए हैं, फिर उठिए, खड़े होइये। फिर आप ईरान, ईराक, इंग्लैण्ड में वहाँ वहाँ जाइये। आज ढूँढ़ा जा रहा है कि इस्लाम से पहले क्या था, ईसाईमत से पहले क्या था? आज इतने आक्रमण होने के बाद भी आपका इतिहास है। इतना लम्बा चौड़ा इतिहास है, ये राम और कृष्ण को छोड़ो। ये तो बहुत बाद के हैं। इससे पहले का बहुत सारा इतिहास

[८] वर्णोच्चारणशिक्षा

[९] यजुर्वेदसंहिता ३४/५

है। आप देखिए! सबसे पहले आप थे।

पुरुषोत्तम नागेश ओक, पं. भगवद्दत्त जी जैसे व्यक्तियों ने आपका सच्चा इतिहास लिखा है, जिसकी ओर ऋषि दयानन्द ने बहुत पहले ही सङ्केत किया था। प्रबन्ध की दृष्टि से व्यास के मन में कितना कुछ रहा होगा। ये कम्युनिस्ट थोड़े ही आपके इस क्रम से देखते हैं, अपने क्रम से देखते हैं। आपका इतना बड़ा इतिहास है, इतिहास को आप जानेंगे, सीखेंगे तो आपका स्वाभिमान जागेगा।

रूस से मेरे पास दूरभाष आया था कि यहाँ के गाँवों में तो वही प्रथाएँ हैं, जो आपके भारत के गाँवों में चल रही हैं। अर्थात् आप कभी थे वहाँ मास्को में, आप कभी थे न्यूयार्क में।

मैं न्यूयार्क गया था। मैंने कहा न्यूयार्क को देखना क्या है, जैसे दिल्ली के चाँदनी चौक आदि स्थान देख लिये। मैंने कहा कि यहाँ के गाँव दिखाओ। गाँव देखने जब मैं गया तो ऐसे गाँव मिले, जैसे भारत के गाँव। इसका अर्थ है कि जो ऋषि दयानन्द ने कहा है कि कभी सारे भूमण्डल पर आपका साम्राज्य था। अर्थात् वैदिक संस्कृति का प्रचार था। वह अब प्रत्यक्ष दिखाई दे रहा है।

एता देवसेनाः सूर्यकेतवः सचेतसः। अमित्रान्नो जयन्तु स्वाहा॥[१०]

फिर आपकी देवसेना उठे, जागे और एक के बाद एक जो भूभाग आपके हाथ से निकल गये हैं, वे सब वापस आएँगे। ये पाकिस्तान तो अब निकला है, ईरान, ईराक, अफगानिस्तान, मास्को, अमेरिका आपका था। अब सिद्ध हो रहा है।

अभी पोप कनाडा गए थे। हो सकता है आपने पढ़ा हो। इसके

---

[१०] अथर्ववेदसंहिता ५/२१/१२

बाद मेरे पास कनाडा के व्यक्ति आए थे, वे बता रहे थे कि यहाँ तो पोपों का बड़ा स्वागत होता है, जबकि वहाँ तो सब क्षमा माँग रहे थे। हमने इतना अत्याचार किया है। क्यों? विद्यालय में पढ़ने के लिए विद्यार्थियों को बुलाया, किसी न किसी बहाने से सारे विद्यार्थी मार दिए। अब उनकी हड्डियाँ मिल रही हैं। जनता बोल रही है कि क्षमा किस बात के लिए करें? ऐसे विद्यालय खोले जाते हैं। इसलिए हम सावधान करते हैं कि ये पहले संस्कृति को मारेंगे फिर आपको मारेंगे।

यह अवैदिक संस्कृति नष्ट हो। आपके वेद का विज्ञान आगे बढ़े। वेदविद्वत्सम्मेलन हों, लोग वेद को जानें और वेदज्ञान का प्रकाश फैले। परमात्मा आप सभी को शक्ति दे।

ओ३म् शान्तिः शान्तिः शान्तिः

वैदिक गति - विज्ञान

डा० निरञ्जन लाल मङ्गल[1]

महर्षये कणादाय नमः। भगवते प्रशस्तपाद-महाभागाय नमः॥

तपस्या से ज्ञान की प्राप्ति होती है। वह योग्य अधिकारी को ही दिया जाता है। पुनरपि पूज्य स्वामी श्री विवेकानन्द सरस्वती जी महाराज के आशीर्वाद से 'वैदिक गति-विज्ञान' के विषय में कुछ विज्ञानामृत का प्रसाद पावमानी के पाठकों के लिए वितरित किया जा रहा है। यहाँ जो कुछ वर्णन किया जायेगा, उसका प्रायशः आधार महर्षि कणाद द्वारा प्रणीत वैशेषिक सूत्रम्[2] एवं उसका प्रशस्तपाद महाभाग कृत भाष्य[3] है।

गति अथवा कर्म (motion) के वैदिक विज्ञान को समझने के लिये कुछ मूल पदार्थों (basic entities) का ज्ञान होना आवश्यक है। वैशेषिक दर्शन में बताया गया है कि मूल **पदार्थ** छह (६) हैं- १. **द्रव्य**, २. **गुण**, ३. **कर्म**, ४. **सामान्य**, ५. **विशेष**, ६. **समवाय**।

(१) **द्रव्य** - नौ (९) हैं- १. पृथिवी, २. आपः, ३. तेजः, ४. वायु,

---

[1] **१२१५, खण्ड-१९, फरीदाबाद, हरियाणा - १२१००२**

[2] वैशेषिकसूत्रम् - चन्द्रानन्द विरचितवृत्त्यलङ्कृतम्, ओरियन्ट् इन्स्टीट्यूट्, बड़ोदा, १९६१।

[3] प्रशस्तपादभाष्य, डॉ० श्रीनिवास शास्त्री, इण्डो-विज़न प्रा. लि., ए-२२० नेहरू नगर, गाजियाबाद - २०१००१

५. आकाश, ६. काल, ६. दिग्, ८. आत्मा, ९. मनः (मन)।

(२) **गुण** - ये द्रव्यों के आश्रित रहते हैं (समवाय सम्बन्ध से)। इनमें क्रिया नहीं होती। इनकी संख्या चौबीस (२४) है - रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, गुरुत्व, द्रवत्व, स्नेह, संस्कार, अदृष्ट (धर्म, अधर्म) और शब्द।

(३) **कर्म** (क्रिया) - द्रव्य के आश्रित रहता है। पाँच प्रकार के कर्म हैं - १. उत्क्षेपण, २. अपक्षेपण, ३. आकुञ्चन, ४. प्रसारण, ५. गमन। चक्र आदि का भ्रमण, रेचन (मल, मूत्रादि का), स्यन्दन (बहना), ऊपर की ओर जलना, तिरछा जाना - ये सब तथा अन्य भी कर्म गमन के ही भेद हैं।

(४) **सामान्य** - यह अनुवृत्ति (समानरूप) की प्रतीति का कारण है। यह पृथिवी भी द्रव्य है, यह जल भी द्रव्य है, यह प्रतीति जिस समानता 'द्रव्यत्व' के कारण होती है वह द्रव्यत्व 'सामान्य' है। यह सामान्य दो प्रकार का होता है- 'पर' तथा 'अपर'। 'पर' सामान्य सत्ता है- सभी पदार्थों में होने के कारण समानता का ही हेतु है। 'द्रव्यत्व', 'गुणत्व' आदि शेष सब 'अपर' सामान्य हैं। ये थोड़े पदार्थों में होते हैं- जैसे 'द्रव्यत्व' केवल द्रव्यों में, 'गुणत्व' केवल गुणों में इत्यादि। ये समानता का हेतु होने के साथ-साथ भेद की भी प्रतीति कराते हैं।

(५) **विशेष** - नित्य द्रव्यों में अन्त में होने वाले 'विशेष' हैं। ये अत्यन्त भेद की प्रतीति का कारण होने से 'विशेष' कहलाते हैं। तुल्य गुण, क्रिया एवं आकृति के होने पर एक परमाणु का दूसरे परमाणु से जो भेद उत्पन्न होता है अथवा एक मुक्त आत्मा अथवा एक मुक्त मन का दूसरी मुक्त आत्मा अथवा दूसरे मुक्त मन से जो भेद का कारण है, वह

विशेष है।

(६) **समवाय** - पृथक् न रहने वाले (अयुतसिद्ध) आधेय एवं आधारभूत पदार्थों का जो सम्बन्ध है (इसमें यह है - इस प्रकार की प्रतीति का जो कारण है) वह 'समवाय' है। यथा गुण द्रव्यों में समवाय सम्बन्ध से रहते हैं। कर्म द्रव्यों में समवाय सम्बन्ध से रहता है। इत्यादि।

द्रव्यों में पृथिवी, आपः, तेजः एवं वायु के परमाणु होते हैं, जो कि नित्य हैं। इनके कार्य द्व्युण आदि अनित्य हैं। मन भी परमाणु स्वरूप है तथा अनेक है और नित्य है। इस प्रकार पाँच ही प्रकार के परमाणु होते हैं। वर्तमान विज्ञान की दृष्टि में पृथिवी का परमाणु डाउन् क्वार्क्, जल का परमाणु अप् क्वार्क्, तेज का परमाणु फोटोन् (Photon), वायु का परमाणु ग्लुओन्/न्युट्रिनो (Gluon/Neutrino) प्रतीत होते हैं। अथवा इनसे भी सूक्ष्म कण। वर्तमान विज्ञान की जो धारणा है कि इकसठ (६१) मूलभूत कण (Elemetary Particles) होते हैं,[४] वह गलत है। आकाश, काल, दिग् एवं आत्मा ये चार सर्वगत (सब में पहुँचे हुये) हैं तथा परम महत्त्व (जिससे बड़ा परिमाण नहीं हो सकता) परिमाण वाले हैं। आकाश, काल एवं दिग् एक-एक हैं। आत्मा अनेक हैं। ईश्वर भी एक आत्मा है। पर वह एक विशेष आत्मा है **क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः** (योगदर्शनम् १.२४) आकाश, काल, दिग् एवं आत्मा नित्य हैं **द्रव्यत्वनित्यत्वे वायुना व्याख्याते** – (वैशेषिक सूत्रम् २.२.७, १३)

इन छह मूल पदार्थों का वर्णन संक्षेप में किया गया। इनके सच्चे

[४] Introduction to Elementary Particles, David Griffiths, John Wiley & Sons, Inc., १९८७, pp. ४८.

स्वरूप को समझने के लिये प्रशस्तपादभाष्य एवं वैशेषिक सूत्र का सम्पूर्ण अध्ययन आवश्यक है। किसी भी शास्त्र (सांख्य योग, वेदान्त आदि) को एवं वेद के मन्त्रों को समझते समय इस आधारभूत वैदिक विज्ञान को सामने रखना होगा। इसके समझने पर द्वैतवाद, अद्वैतवाद, विशिष्ट अद्वैतवाद, त्रैतवाद एवं नास्तिकवाद का परस्पर कलह समाप्त हो जाता है। अतः व्याकरण (पाणिनीय) एवं वैशेषिक को सर्वशास्त्र-उपयोगी माना गया है। ऊपर वर्णित विज्ञान का सहारा लेक 'वैदिक गति-विज्ञान' का वर्णन किया जाता है-

कर्म (motion)

जैसा कि ऊपर वर्णित किया गया है- 'कर्म' छह मूल पदार्थों में एक है (It is one of the six basic entities)। इसका अस्तित्व है, नाम (कर्म) है तथा ज्ञान का विषय है। उत्क्षेपण, अपक्षेपण, आकुञ्चन, प्रसारण और गमन ये पाँच कर्म की जातियां हैं।

उत्क्षेपणादि **पाँच कर्मों में समानता (साधर्म्य)**

१. सभी में कर्मत्व है, २. एक द्रव्य के आश्रित रहते हैं, ३. क्षणिक हैं (हर क्षण नया कर्म होता है) ४. मूर्त द्रव्य (परिच्छिन्न परिमाण वाले पृथिवी, आपः, तेजः, वायु एवं मन) में रहते हैं, ५. 'गुणों' से रहित होते हैं, ६. 'गुरुत्व', 'द्रवत्व', 'प्रयत्न' और 'संयोग' से उत्पन्न होते हैं, ७. अपने कार्य (संयोग) से विरोध होना (कर्म से नया संयोग उत्पन्न होता है, नया संयोग होते ही पूर्व कर्म का नाश हो जाता है। अतः सभी कर्म क्षणिक हैं), ८. संयोग एवं विभाग का निरपेक्ष कारण होना, ९. (द्रव्य आदि के) असमवायी कारण हैं, १०. अपने आश्रय अथवा दूसरे के आश्रय में समवेत कार्य (संयोग, विभाग) को उत्पन्न करते हैं, ११. समानजातीय (कर्म) को उत्पन्न नहीं करते, १२. द्रव्य को उत्पन्न नहीं

करते (उत्तर देश संयोग से पूर्व कर्म नष्ट हो जाता है, वह संयोग ही द्रव्य को आरम्भ करता है)।

पाँचों कर्मों का परस्पर भेद (वैधर्म्य)

१. उत्क्षेपणत्व आदि सामान्य (जाति) से सम्बन्ध होना, २. विशेष दिशा में कार्य (संयोग, विभाग) को उत्पन्न करना।

यहाँ यह ध्यान करना चाहिये कि 'गुरुत्त्व' (Gravity) केवल पृथिवी एवं जल (आपः) में है। यह नीचे पतन कर्म का कारण है। 'द्रवत्व' स्यन्दन (बहना) कर्म का कारण है। यह 'द्रवत्व' आपः में स्वाभाविक रूप से रहता है, पृथिवी एवं तेजः में नैमित्तिक है। 'प्रयत्न' आत्मा का गुण है। यह इससे संयुक्त है इस प्रतीति का कारण 'संयोग' (नामक गुण) है। परमाणु आदि का परस्पर वा आकाश के एक देश वा आत्मा के एक देश से 'संयोग' वा 'विभाग' होता है। विभु (सर्वत्र व्याप्त) द्रव्यों (आकाश, काल, दिग् एवं आत्मा) का परस्पर संयोग नहीं होता क्योंकि वे कभी एक दूसरे से पृथक् नहीं होते। अमूर्त (परम महत् परिमाण) होने से इनमें कर्म नहीं होता। अब 'उत्क्षेपण' आदि पाँच कर्मों का वर्णन किया जाता है -

१. **उत्क्षेपण** - शरीर के अवयवों में तथा उन अवयवों से सम्बद्ध (द्रव्यों) में गुरुत्व, प्रयत्न एवं संयोग के कारण ऊपर के प्रदेशों से संयोग कराने वाला तथा नीचे के प्रदेशों से विभाग कराने वाला जो कर्म (क्रिया) उत्पन्न होता है, वह 'उत्क्षेपण' है।

२. **अपक्षेपण** - इस (उत्क्षेपण) के विपरीत (नीचे के प्रदेशों से) संयोग कराने वाला और (ऊपर के प्रदेशों से) विभाग कराने वाला कर्म 'अपक्षेपण' है।

३. **आकुञ्चन** - सरल (ऋजु = सीधे) द्रव्य के अग्रिम अवयवों का

उनके प्रदेशों से विभाग तथा मूल प्रदेशों से संयोग जिस कर्म से होता है, जिससे अवयवी कुटिल हो जाता है, वह 'आ कुञ्चन' (सिकुड़ना, सङ्कुचित होना) है।

४. **प्रसारण** - इस (आकुञ्चन) के विपरीत संयोग-विभाग होने पर जिस कर्म से अवयवी सरल (ऋतु) हो जाता है वह 'प्रसारण' (फैलना) है।

५. **गमन** - जो अनियत (ऊपर वर्णित से भिन्न) दिक् प्रदेशों में संयोग विभाग का कारण कर्म है, वह 'गमन' है।

यह पाँच प्रकार का कर्म शरीर के अवयवों में तथा उनसे सम्बद्ध (द्रव्यों) में आत्मा के प्रयत्न से (सत्प्रत्यय) अथवा बिना प्रयत्न के (असत्प्रत्यय) होने वाला है। जो अन्य कर्म है वह आत्मा के प्रयत्न से रहित है (अप्रत्यय)। आत्मा के प्रयत्न के बिना सभी कर्म 'गमन' हैं। अतः 'उत्क्षेपण', 'अपक्षेपण', 'आकुञ्चन' एवं 'प्रसारण' ये चार कर्म आत्मा द्वारा प्रयत्नपूर्वक ही होते हैं।

उदाहरण - धनुष् से बाण छोड़ने की क्रिया से प्रयत्नपूर्वक एवं अप्रयत्नपूर्वक 'गमन' कर्म (कर्म शृङ्खला) को समझते हैं। जब व्यायाम किया हुआ बलवान् बायें हाथ से धनुष् संभाल कर दाहिने हाथ से बाण का सान्धान कर बाणयुक्त प्रत्यञ्चा (धनुष् की डोरी) को मुट्ठी से पकड़ कर खींचने की इच्छा करता है- "डोरी और बाण सहित इस धनुष् को खींचूँ"। तो वह प्रयत्न करता है। उस प्रयत्न के निमित्त से आत्मा तथा हाथ के संयोग से खींचने की क्रिया हाथ में उत्पन्न होती है। उसी प्रयत्न की अपेक्षा से उसी समय हाथ, प्रत्यञ्चा तथा बाण के संयोग से प्रत्यञ्चा तथा बाण में भी कर्म उत्पन्न होता है। प्रयत्न से विशिष्ट (युक्त) हाथ, प्रत्यञ्चा

तथा बाण के संयोग की अपेक्षा करने वाले धनुष् के दो छोरों (कोरों, कोटि) के दो संयोगों से धनुष् की कोटियों में (धनुष् के दोनों सिरों में) दो कर्म होते हैं। यह सब एक साथ (युगपत्) होता है। इस प्रकार कर्ण पर्यन्त धनुष् के खींचे जाने पर - "इससे परे इसे नहीं जाना है" ऐसा जो ज्ञान होता है, उससे उस आकर्षण (खींचने) के लिये किये गये प्रयत्न का नाश हो जाता है। तब फिर बाण को छोड़ने की इच्छा होती है। इसके अनन्तर प्रयत्न (आत्मा के द्वारा) होता है। इस प्रयत्न की अपेक्षा से होने वाले आत्मा और अंगुलि के संयोग से अंगुलि में कर्म होता है। उससे अंगुलि और प्रत्यञ्चा का विभाग होता है। उस विभाग से (अंगुलि और प्रत्यञ्चा) के संयोग का नाश हो जाता है। उसके नाश हो जाने पर प्रतिबन्धक न होने से धनुष् में विद्यमान 'स्थिति-संस्थापक' संस्कार मण्डलाकार धनुष् को पूर्व अवस्था (जैसा आकर्षण से पूर्व था) में स्थापित होता है। उसी 'स्थिति-संस्थापक' संस्कार की अपेक्षा से धनुष् और प्रत्यञ्चा के संयोग से प्रत्यञ्चा और बाण में कर्म उत्पन्न होता है। वह कर्म अपने कारण (धनुष और प्रत्यञ्चा का संयोग) की अपेक्षा रखता हुआ प्रत्यञ्चा में संस्कार (वेग) को उत्पन्न करता है। उस 'वेग' की अपेक्षा से बाण एवं प्रत्यञ्चा का संयोग 'नोदन' (forceful contact) नामक संयोग में परिवर्तित हो जाता है। उस ('नोदन') से बाण में प्रथम कर्म उत्पन्न होता है। नोदन की अपेक्षा रखता हुआ यह कर्म बाण में संस्कार (वेग) को उत्पन्न करता है। उस वेग से नोदन की सहायता से तब तक कर्म होते रहते हैं जब तक बाण और प्रत्यञ्चा का विभाग होता है। विभाग होने पर नोदन के निवृत्त हो जाने पर बाण के उत्तरोत्तर कर्म बाण के संस्कार (वेग) से होते हैं, बाण के गिरने तक।

यहाँ क्रमशः बहुत से कर्म होते हैं। क्यों? संयोगों के अनेक होने से (हर क्षण आकाश के नये प्रदेश से संयोग होता है)। संस्कार (वेग) तो एक होता है क्योंकि बीच में अन्य अपेक्षित कारण (नोदन और अभिघात) नहीं होते।

विशेष - यहाँ यह ध्यान रखना चाहिये कि वेग की दिशा भी होती है तथा उसकी मात्रा बदलती है प्रतिरोध के कारण। संभवतः 'एक्सलरेशन्' (acceleration) ही 'वेग' है।

आत्मा से अधिष्ठित न होने वाले बाह्य (शरीर से बाहर) चार महाभूतों (पृथिवी, आपः, तेजः, वायु) में जो प्रयत्नरहित (अप्रत्यय) कर्म होता है वह गमन ही है और 'नोदन' आदि (अभिघात, गुरुत्व, द्रवत्व और अदृष्ट) से होता है। 'नोदन' एवं 'अभिघात' संयोग विशेष है।

नोदन - गुरुत्व, द्रवत्व, वेग एवं प्रयत्न (मिल कर अथवा पृथक् पृथक्) के निमित्त से होने वाला विशेष प्रकार का संयोग 'नोदन' है। (नोद्य एवं नोदक में परस्पर) विभाग को न करने वाला, एक कर्म का कारण है।

अभिघात - वेग के निमित्त से होने वाला जो विशेष प्रकार का संयोग है, जो (हन्यमान तथा वेगयुक्त वस्तु में) विभाग के कारण एक कर्म को उत्पन्न करता है, वह 'अभिघात' है। जैसे पाषाणादि के कठोर वस्तु में गिरने से।

'गुरुत्व' केवल पृथिवी एवं जल (आपः) में है। पृथिवी एवं उदक (आपः) में प्रतिबन्धक (विधारक) - संयोग, प्रयत्न और वेग का अभाव होने पर 'गुरुत्व' के निमित्त से जो नीचे की ओर गति होती है, वह 'पतन' कर्म है (**संयोगाभावे गुरुत्वात् पतनम्** - वैशेषिक. ५.१.७)। (**यह**

समझना कि 'गुरुत्व' के कारण पतन (fall) 'न्यूटन' (Newton) ने आविष्कृत किया यह हमारी भूल है)। पतन में आद्य कर्म गुरुत्व से होता है। दूसरे, तीसरे आदि कर्म 'गुरुत्व' एवं संस्कार (वेग) से उत्पन्न होते हैं।

स्रोतों (प्रवाह) में, जल का अपने 'द्रवत्व' के कारण किसी स्थान से नीचे की ओर गमन, 'स्यन्दन' कहलाता है। यह भी 'गमन' कर्म है। 'द्रवत्व' स्यन्दन (बहना) कर्म का कारण है। यह दो प्रकार का है - 'स्वाभाविक' जो जल का विशेष गुण है तथा 'नैमित्तिक' जो पृथिवी एवं तेजस् का सामान्य गुण है। पृथिवी एवं तेजस् में यह अग्नि के संयोग से उत्पन्न होता है।

'प्राण' नामक वायु में कर्म आत्मा एवं वायु के संयोग से होता है। जागते हुए प्राणी का इच्छा-द्वेष पूर्वक 'प्रयत्न' की अपेक्षा से यह कर्म होता है तथा सोते हुये प्राणी का जीवनपूर्वक प्रयत्न की अपेक्षा से होता है। शरीर युक्त मन में इन्द्रियान्तर से सम्बन्ध आत्मा एवं मन के संयोग से होता है, इच्छा-द्वेष पूर्वक प्रयत्न की अपेक्षा से। मृत्यु के समय मन (मनस्) का शरीर से विभाग (अपसर्पण) आत्मा एवं मन के संयोग से होता है, अदृष्ट (धर्म-अधर्म) की अपेक्षा (निमित्त) से। इसी प्रकार मन का नये शरीर से सम्बन्ध (उपसर्पण) भी आत्मा एवं मन के संयोग से होता है अदृष्ट की अपेक्षा रखता हुआ।

अदृष्ट द्वारा कराये गये कर्म

सृष्टि के समय नये शरीर से सम्बन्ध के लिए मन का कर्म, योगियों द्वारा शरीर से बाहर निकाले गये मन का अभीष्ट देश में जाना तथा लौटना यह 'अदृष्ट' (जो कि आत्मा का गुण है) द्वारा कराया जाता है। इसी प्रकार अन्य भी महाभूतों में होने वाला कर्म जिसका प्रत्यक्ष तथा

अनुमान से कारण नहीं उपलब्ध होता है और जो उपकार (हित) तथा अपकार (अहित) में समर्थ होता है, वह 'अदृष्ट' द्वारा कराया जाता है - जैसे सृष्टि के आदि में परमाणुओं में कर्म, अग्नि का ऊर्ध्व-ज्वलन, वायु की तिरछी (तिर्यक्) गति, महाभूतों का क्षोभ, अभिषिक्त मणि का तस्कर (चोर) की ओर जाना, लोहे का 'अयस्कान्त' (चुम्बक) की ओर जाना।

॥ इति कर्मपदार्थः ॥

इस प्रकार इस सत्य आर्ष वैदिक गति विज्ञान से हम अपना एवं विश्व का कल्याण कर सकते हैं।

ओ३म् शम् ॥

ज्ञान विज्ञान का मूल स्रोत वेद

प्रो० ज्वलन्त कुमार शास्त्री[१]

मानवीय सभ्यता-संस्कृति-ज्ञान और विज्ञान का आदिस्रोत वेद है। भारतीय मनीषी अपनी सारस्वत साधना का उद्गम स्थल वेद को मानते हैं। महर्षि मनु ने '**सर्वज्ञानमयो हि सः**' (मनु० २/७) तथा **वेदोऽखिलो धर्ममूलम्** (मनु० २/६) कहकर भगवान् वेद को ही समस्त-ज्ञान-विज्ञान का मूल स्वीकार किया है।

अक्षर विज्ञान का मूल वेद

ऋग्वेद वाणी के विषय में कहता है-

जन्म-जन्मान्तरों में गमनशील जीवात्मा वाणी को (शब्दों को) मन की सहायता से धारण करता है। मन के अन्दर अनभिव्यक्त उस वाणी को प्राणवायु प्रकाशित करता है। उस हितकारिणी आत्मेच्छा से जनित वाणी को ऋषि आदि मेधावीजन अध्ययन-अध्यापन से ऋत (सत्य का ज्ञान) के पद (स्थान) में भली-भाँति रक्षा करते हैं-

पतङ्गो वाचं मनसा बिभर्त्ति तां गन्धर्वोऽवदद् गर्भे अन्तः।
तां द्योतमानां स्वर्यं मनीषामृतस्य पदे कवयो नि पान्ति॥

ऋ.१०/१७७/२

---

[१] चाणक्यपुरी, अमेठी

पाणिनि-शिक्षा में '**वर्णास्त्रिषष्टिः**' '**चतुःषष्टिरित्येके**' कहा गया है अर्थात् वर्णों की संख्या तिरसठ (६३) या चौंसठ (६४) है। वर्णों की ६४ संख्या का आधार चौंसठ अध्यायों वाला ऋग्वेद है। ऋग्वेद में आठ (८) अष्टक हैं और प्रत्येक अष्टक में आठ (८) अध्याय हैं। 'कामशास्त्र' में 'काम' की ६४ कलाओं का आधार चतुःषष्टि (६४) अध्यायात्मक ऋग्वेद को माना गया है।

६३ या ६४ वर्णों का विवरण 'शिक्षा' नामक वेदाङ्ग में मिलता है। स्वर वर्णों का प्रथमतः तथा व्यञ्जन वर्णों का विवरण उसके बाद दिया गया है। प्रथमतः शुद्ध स्वर- अ, इ, उ पुनः अन्य स्वर ऋ, लृ, तत्पश्चात् संयुक्त स्वर - ए, ओ, ऐ, औ। इनके ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत भेद, पुनः सानुनासिक और निरनुनासिक भेद बताये गये हैं। व्यञ्जन वर्णों का विवरण या उपस्थापन पूर्णतः वैज्ञानिक है।

समग्र कण्ठ्य वर्ण (क, ख, ग, घ, ङ) एक साथ कवर्ग नाम से, समग्र तालव्य वर्ण (च, छ, ज, झ, ञ) एक साथ चवर्ग नाम से, समग्र मूर्धन्य वर्ण (ट, ठ, ड, ढ, ण) एक साथ टवर्ग नाम से, समग्र दन्त्य वर्ण (त, थ, द, ध, न) एक साथ तवर्ग नाम से, तथा समग्र ओष्ठ्य वर्ण (प, फ, ब, भ, म) एक साथ पवर्ग नाम से अनुक्रमित, विवृत या अध्यापित किए गए है। तत्पश्चात् अन्तःस्थ और ऊष्म वर्णों की प्रस्तावना है-

ऋचो अक्षरे परमे व्योमन् यस्मिन् देवा अधिविश्वे निषेदुः।
यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति य इत्तद्विदुस्त इमे समासते॥

ऋग्वेद १/१६४/३९

अक्षरेण मिमते सप्त वाणीः॥ अथर्ववेद ९/१०/२

इन मन्त्रों के आलोक में पाणिनि प्रभृति वैयाकरणों ने माहेश्वर - सूत्रों में वैदिक और संस्कृत भाषा का सम्पूर्ण 'वर्ण-समाम्नाय' सन्निविष्ट

किया। ज्ञातव्य है कि माहेश्वर सूत्र पाणिनि की उपज्ञा नहीं हैं। ये भगवान् (ऐतिहासिक) शिव या महेश्वर के उपदिष्ट सूत्र हैं, जिन्हें पाणिनि ने यथावत् ग्रहण कर लिया (द्रष्टव्य- 'संस्कृत व्याकरण शास्त्र का इतिहास' - पं० युधिष्ठिर मीमांसक)। संसार की किसी भाषा के वर्ण - समाम्नाय का ऐसा वैज्ञानिक प्रस्तवन नहीं पाया जाता। स्थान, करण और प्रयत्न के अनुसार ध्वनियों (वर्णों) को वर्गीकृत करके पाणिनि ने इन्हें १४ (चौदह) सूत्रों में प्रस्तुत कर दिया है।

कहना न होगा कि वैदिक संस्कृत भाषा के वर्ण समाम्नाय का ऐसा वैज्ञानिक वर्गीकरण किसी भी भाषा में नहीं पाया जाता। पाठक अंग्रेजी के वर्ण क्रम A B C D और वर्णों की २६ (छब्बीस) संख्या तथा उर्दू के अलिफ, बे, पे, ते, से तथा अक्षरों की ३८ संख्या से स्वयं तुलनात्मक अध्ययन करके उपर्युक्त निष्कर्ष पर पहुंच सकते हैं।

गणितशास्त्र का मूल वेद

यजुर्वेद में कहा गया है कि जल के विविध रूपों का लेखा-जोखा रखने के लिए 'गणक' की सहायता ली जानी चाहिये (**यादसे शाबल्यां ग्रामण्यं गणकम्** (यजुर्वेद ३०/२०)। 'यादस् शब्द जल वाचक है (निघण्टु १/१२)। ऋग्वेद (३/३६/७) - '**समुद्रेण सिन्धवो यादमानाः**' में याद् धातु का बहने अर्थ में प्रयोग प्राप्त है। '**गणकम्**' शब्द से गणितशास्त्र में निष्णात विद्वानों की सूचना प्राप्त होती है। शास्त्र के रूप में 'गणित' का प्राचीन प्रयोग 'लगध' ऋषि के 'वेदाङ्ग-ज्योतिष' नामक ग्रन्थ में पाया जाता है- "

यथा शिखा मयूराणां नागानां मणयो यथा।
तद्वत् वेदाङ्गशास्त्राणां गणितं मूर्ध्नि वर्त्तते॥"

यजुर्वेद में ही खगोलशास्त्र (ज्योतिष) के विद्वान् के लिये

'नक्षत्रदर्श' का प्रयोग मिलता है- '**प्रज्ञानाय नक्षत्रदर्शम्**' (यजुर्वेद ३०/१०)। छान्दोग्य उपनिषद् (७/१/२) में गणित के लिये 'राशिविद्या' तथा ज्योतिष के लिये 'नक्षत्रविद्या' नाम का प्रयोग किया गया है। यजुर्वेद में वेदि में चुनी गई ईटों की संख्या तथा उतनी ही गायों की प्रार्थित संख्या के लिए १ से प्रारम्भ करके सबसे बड़ी परार्थ संख्या का प्रयोग किया गया है- एक, दश, शत, सहस्र, अयुत, नियुत, प्रयुत, अर्बुद, न्यर्बुद, समुद्र, मध्य, अन्त, परार्ध तक संख्या का प्रयोग यजुर्वेद (१७/२) में है। इन संख्याओं में अयुत, नियुत, प्रयुत, अर्बुद, न्यर्बुद, समुद्र, मध्य, अन्त्य और परार्ध शब्द क्रमशः दस हजार, एक लाख, दस लाख, एक करोड़, दस करोड़, एक अरब, दस अरब, एक खरब और दस खरब के वाचक हैं। बाद में बौद्ध ग्रन्थ 'ललित विस्तार' (ई०पू० १०० में विरचित) में एक लाख के लिये 'लक्ष' तथा वाल्मीकीय रामायण में एक करोड़ के लिये 'कोटि' शब्द के प्रयोग के कारण महान् गणितज्ञ आर्यभट्ट ने 'अर्बुद' का अर्थ दस करोड़ किया। परवर्ती गणित के आचार्य श्रीधराचार्य ने 'नियुत' के स्थान पर 'लक्ष' का प्रयोग किया। गणित की संख्या पदावली में लक्ष तथा कोटि का प्रयोग प्रारम्भ हुआ। प्राकृत में ये शब्द 'लाख' तथा 'करोड़' के रूप में प्रयुक्त किये जाने लगे तथा 'अर्बुद' से निःसृत अरब शब्द एक अरब का वाचक बन गया। Enlish भाषा में Lac प्रयुक्त को 'लक्ष' से तथा Crore को 'कोटि' शब्द से निःसृत माना जाता है (द्रष्टव्य - Oxford English Dictionary में सम्बन्धित शब्द)। अंग्रेजी भाषा में हजार के लिये Thousand शब्द से आगे संख्या नहीं है। मिलियन, बिलियन्स आदि शब्दों से उसे प्रकट किया है। वेद में शून्य (०) का प्रयोग उपलब्ध है। '**शून्यैषी निर्ऋते याजगन्धोत्तिष्ठराते प्रपत मेह रंस्थाः**।' (अथर्ववेद १४/२/१९) 'शून्यैष'

का प्रतिरूप ग्रीक में केन्योस् (Kenyos) शब्द प्राप्त होता है। अरबी भाषा के 'सिफ्र' शब्द के द्वारा शून्य के 'खाली' अर्थ का अरबी अनुवाद किया गया है। इस 'सिफ्र' से इंग्लिश का Zero शब्द विकसित है। पूरण अर्थ में 'म' प्रत्यय प्रचलित है। संस्कृत के 'पंचम' 'अष्टम' 'नवम' का प्रयोग हिन्दी भाषा में भी होता है। वेदों में पूरण अर्थ को प्रकट करने के लिए 'म' प्रत्यय के साथ 'थ' प्रत्यय भी प्रचलित रहा है। ऋग्वेद में 'सप्तन्' शब्द से 'थ' प्रत्यय के द्वारा 'सप्तथः' का '**सरस्वती सप्तथी सिन्धुमाता**' (ऋग्वेद ७/३६/६) तथा काठक संहिता में (९/३१) 'पञ्चथः' का प्रयोग है। अंग्रेजी भाषा में Fifth, Sixth, Seventh आदि के प्रयोग वैदिक प्रत्यय 'थ' का स्मरण कराते हैं। 'म' प्रत्ययान्त 'पञ्चम' तथा 'सप्तम' की तुलना पहलवी Penjum तथा फारसी के Haptum से की जा सकती है। १० की संख्या के लिये 'दश' का प्रयोग वेदों में है। यास्क ने 'दश' का निर्वचन करते हुए लिखा है- '**दश दस्ता**' (निरुक्त ३/१०)। अर्थात् दस नाम इसलिये हैं, क्योंकि इस संख्या तक संख्या-लेखन के लिये अङ्क परिपूर्ण हो जाते हैं। इसके पश्चात् किसी भी बड़ी से बड़ी संख्या-लेखन के लिये इन्हीं अङ्कों की पुनरावृत्ति की जाती है। (दशन् दस)

यजुर्वेद के एक मन्त्र में 'एकादश', 'त्रयोदश' आदि विषम संख्याओं का क्रमशः उल्लेख प्राप्त है (यजु० १८/२४)। संस्कृत की संख्यामाला प्रायः इस पद्धति का अनुसरण करके बनाई गई है। अंग्रेजी में भी Fifteen, Sixteen आदि शब्द इसी रीति से बनाये गये हैं। नवपूर्व संख्याओं के लिये दो प्रकार के प्रयोग वेदों में मिलते हैं। प्रथम प्रकार नवविशंति, नवाशीति, नवनवति शब्द २९ (उन्नतीस), ८९ (नवासी), ९९ (निन्यानवे) के अर्थ में आते हैं। इनमें नवासी तथा

निन्यानवे की रचना नवाशीति तथा नवनवति की रीति पर आधारित है। किन्तु अंग्रेजी में Twenty Nine, Eighty Nine, Ninty Nine के प्रयोग का आधार ऋग्वेद के '**जघान नवतीर्नव** (ऋग्वेद १/१८४/१३) का प्रयोग है, जहाँ दश नवगुणित संख्या पहले तथा नव का प्रयोग बाद में किया गया है। किन्तु हिन्दी में उन्नीस व उन्नतीस आदि शब्दों के प्रयोग का आधार दूसरा है। इस प्रकार का प्रयोग 'ऊन' शब्द के द्वारा विकसित किया गया है। वेद में पूर्ण के विपरीत न्यून अर्थ में 'ऊन' का प्रयोग प्राप्त है। इसके आधार पर एकोनविंशति (एक कम (न्यून) बीस) जैसे प्रयोग भी वेद में वर्तमान हैं। इसका अनुसरण करते हुए हिन्दी में उन्नीस, उन्नतीस, उनतालीस, उनचास, उनसठ जैसे शब्दों के प्रयोग विकसित हुए हैं। इस प्रकार गणित की संख्याओं को विश्व में सर्वत्र प्रसारित करने में वेद, वैदिक साहित्य और संस्कृत भाषा तथा भारत का योगदान सर्वविदित है। अतः अरबी विद्वानों ने अङ्कों को 'हिन्दसां' नाम देकर इसे स्पष्ट रूप से स्वीकृत किया है।

ज्योतिष् शास्त्र का मूल वेद

आकाश में चमकने वाले सूर्य-चन्द्रमादि ग्रह-नक्षत्रादि को ज्योतिपुञ्ज कहते हैं। इनका ज्ञान जिससे हो उसे ज्योतिष् शास्त्र कहते हैं। विश्व में इस विद्या के प्रवर्त्तक भगवान् वेद हैं। ज्योतिष् शास्त्र से हम काल की गणना करते हैं, किन्तु काल अनन्त है, उसकी गणना असम्भव है। लेकिन सूर्यादि ग्रहों के माध्यम से हम मध्य से ही गणना करते हैं। ऋग्वेद के अस्यवामीय सूक्त (१/१६४) का ग्यारहवां मन्त्र है-

द्वादशारं नहि तज्जराय वर्वर्ति चक्रं परि द्यामृतस्य।
आ पुत्रा अग्ने मिथुनासो अत्र सप्त शतानि विंशतिश्च तस्थुः॥

ऋ. १/१६४/११

इस मंत्र में सूर्य का चक्र, उसके १२ अरें और ७२० पुत्र बताये गये हैं। यह चक्र निरन्तर घूमता रहता है, यह न कभी जीर्ण (बूढ़ा) होता है न कभी मरता है। ३६० दिन और ३६० रात्रियाँ ये ही ७२० होकर सूर्य के पुत्र हैं। अरें बारह मास हैं।

'**वेद मासो धृतव्रतो प्रजावतः। वेदा य उपजायते**।' ऋ. १२/५/८

इस ऋङ्मन्त्र में वर्ष के बारह (१२) मासों तथा १३वेँ अधिमास या मलमास का वर्णन है। यजुर्वेद में १३वें मास को '**अहंसस्पति**' (२२/३१) कहा गया है। इसी कारण आज भी लोग इसे मलमास कहते हैं। अरब के लोग अधिमास के लिए 'वज्रमास' शब्द का प्रयोग करते हैं। चान्द्रमास और सौरमास के आधार पर चान्द्र वर्ष और सौरवर्ष के अन्तर को पाटने के लिए अधिमास का प्रयोग किया जाता है, जिससे वर्ष में ऋतुओं का हिसाब ठीक रखा जा सके। अन्यथा आषाढ़ में जाड़ा तथा माघ में वृष्टि का अनुभव होता। ऋग्वेद के

'**द्वादश प्रधयश्चक्रमेकं त्रीणि नभ्यानि क उ तच्चिकेत।**
तस्मिन्त्साकं त्रिशता न शङ्कवोऽर्पिताः षष्टिर्न चलाचलासः'

(ऋ० १/१६४/८४)

इस मंत्र में वर्षचक्र में १२ प्रधियाँ, ३ नाभियाँ और ३६० शङ्कु का उल्लेख है। १२ प्रधियाँ १२ बारह मास हैं। ३ नाभियाँ- मुख्य तीन ऋतुएँ- ग्रीष्म, वर्षा और शरद् हैं। ३६० शङ्कु वर्ष के ३६० दिन हैं। ज्ञातव्य है कि वर्ष के ३६० दिन चान्द्रमास के आधार पर हैं। चन्द्रमा के आधार पर मास का निर्धारण आज भी पञ्चांगों में किया जाता है क्योंकि तिथियों का निर्धारण चन्द्रमा के कृष्ण पक्ष और शुक्ल पक्ष की प्रतिपद् या प्रतिपदा, द्वितीया, तृतीया, चतुर्थी, पञ्चमी, षष्ठी, सप्तमी, अष्टमी, नवमी, दशमी, एकादशी, द्वादशी, त्रयोदशी, चतुर्दशी, कृष्ण पक्ष (बहुल दिवस के

संक्षेपण बदि) की अमावस्या और शुक्ल पक्ष (शुक्ल दिवस के संक्षेपण शुदि) की पूर्णिमा के आधार पर ही तय होती है। तिथियों के नामकरण का यह आधार वैज्ञानिक है। जनवरी-फरवरी आदि महीनों की तारीख के निर्धारण का वैज्ञानिक आधार नहीं है। जनवरी, मार्च, मई, जुलाई, अगस्त, अक्टूबर और दिसम्बर में ३१ दिन और अप्रैल, जून, सितम्बर तथा नवम्बर में ३० दिन तथा फरवरी में २८ दिन तथा ४ वर्षों बाद २९ दिन के फरवरी महीने का निर्धारण कल्पित है। पूर्व काल में चन्द्रमा के आधार पर मास या महीनों का प्रचलन रहा है। इस्लाम मतानुयायी आज भी चन्द्रमा को देखकर ईद आदि त्योहार मनाते हैं। अंग्रेजी में मास के लिए Month नाम का आधार चन्द्रमा (Moon) है। ३६० शङ्कु जहाँ वर्ष के ३६० दिन हैं, वहाँ इस मंत्र में वर्ष के लिए चक्र शब्द का प्रयोग यह भी बताता है कि वृत्त चक्राकार होता है और एक वृत्त में ३६० शङ्कु ३६० अंश हैं। इस मंत्र में २३ प्रधियों से १२ राशियों का अर्थ भी लिया गया है। १२ राशियाँ ये हैं- (१) मेष, (२) वृष, (३) मिथुन, (४) कर्क, (५) सिंह, (६) कन्या, (७) तुला, (८) वृश्चिक, (९) धनुः, (१०) मकर, (११) कुम्भ और (१२) मीन। यूनानी ज्योतिषी 'एराइज' मेष, तौरुस, वृषभ, जेमिनी, मिथुन आदि इस प्रकार के नाम रखे हैं। जापानी ज्योतिषियों ने १२ (बारह) राशियों को चूहा, साँप, मुर्गा, आदि नाम रखकर इन्हें मनुष्येतर माना है। वस्तुतः ये राशियाँ ताराओं के समूह हैं, जिनको जैसी आकृति मालूम हुई, वही नाम रख दिया।

वर्ष के १२ बारह मास की जानकारी वेदों के आधार पर वैदिक ऋषियों को प्रारम्भ से ही थी। यूरोपीय ज्योतिष शास्त्र के सम्बन्ध में पं० गौरीशंकर हीराचन्द ओझा ने लिखा है-

"ध्यान देने की बात है कि प्राचीन रोमवासी आरम्भ में १० महीने

और ३०४ दिन का वर्ष मानते थे। १२ महीने का संवत् वहाँ पहले पहल 'राजानुमा पोपिल्स' ने (६७५ ई० पूर्व) आदि में जनवरी, फरवरी मास जोड़कर चलाया था। लेकिन दिन तब भी ३५५ ही माने जाते थे। ५वीं शती ईसा से पूर्व वहाँ चान्द्र की जगह सौर वर्ष माना जाने लगा, जो ३५५ दिन का ही होता था। इस सौर वर्ष और वास्तविक सौर वर्ष के अन्तर मिटाने के लिए वहाँ अनेक प्रयत्न किये गये। यूनानियों से अधिक दिन मानने की रीति ली गई। अन्त में ४६ ई० पूर्व में जूलियस सीजर ने वर्ष का दिन-मान ३६५ निश्चित किया। जुलियस और अगस्टस के नाम पर जुलाई और अगस्त नाम रखे गये" (प्राचीन लिपिमाला, पृष्ठ १९४)। जनवरी, फरवरी पागान के देवताओं के नाम पर रखे गये। जनवरी द्विमुख जानुष के नाम पर है, उसका एक मुँह दिसम्बर की ओर बन्द और दूसरा फरवरी की ओर खुला हुआ है। जनवरी-फरवरी नामक दो मास प्रारम्भ में जोड़े गये, इसके पूर्व मार्च महीना वर्ष का आरम्भिक मास था। March Pass प्रारम्भ का सूचक है। इसीलिए सितम्बर, अक्टूबर, नवम्बर, दिसम्बर ये क्रमशः नवें, दसवें, ग्यारहवें और बारहवे महीने माने जाते हैं। अभी तक व्यवहारानुकूल नामकरण में सुधार नहीं हुआ। किन्तु वैदिक ज्योतिष् शास्त्र की पद्धति प्रारम्भ से ही पूर्ण और वैज्ञानिक है।

व्याकरण शास्त्र और भाषा विज्ञान का मूल वेद

व्याकरण शास्त्र के तपःपूत आचार्य महर्षि पतञ्जलि ने व्याकरण शास्त्र का मूल वेद को बताते हुए, ऋग्वेद का एक मंत्र उद्धृत किया है और उसकी व्याकरणपरक व्याख्या भी की है। मन्त्र है-

चत्वारि शृङ्गा त्रयो अस्य पादा द्वे शीर्षे सप्त हस्तासो अस्य।
त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति महो देवो मर्त्यां आ विवेशा॥

ऋ. ५/५८/३

इसका अर्थ करते हुए पतञ्जलि मुनि कहते हैं- एक वृषभ अर्थात् एक बैल ऐसा है, जिसके चार सींग, तीन पैर, दो सिर तथा सात हाथ हैं। वह वृषभ तीन स्थानों में बँधा हुआ बार-बार बोलता है। वह बैल जिसे वैदिक संस्कृत में वृषभ कहा गया है वह और कोई नहीं, शब्द ही वृषभ है। उसे वृषभ इसलिए कहा जाता है कि वह कामनाओं की वर्षा करने वाला है इसी शब्दरूपी वृषभ के चार सींग नाम अर्थात् संज्ञा, आख्यात अर्थात् क्रिया, उपसर्ग और निपात अर्थात् अव्यय हैं। तीन पैर वर्तमान, भूत और भविष्यत् तीन काल हैं। दो शिर नित्य और अनित्य दो प्रकार के शब्द हैं। उसके सात हाथ, सात विभक्तियां हैं। यह तीन स्थान उरस् (हृदय), कण्ठ और शिर (मूर्धा) में बँधा हुआ है। ऐसा शब्दरूपी महादेव, मनुष्यों में प्रविष्ट है। अथर्ववेद के प्रथम मंत्र में ही व्याकरण शास्त्र का मूल ऋषियों को दृष्टिगोचर हुआ था-

ये त्रिषप्ताः परियन्ति विश्वा रूपाणि बिभ्रतः।

वाचस्पतिर्बला तेषां तन्वो अद्य दधातु मे ॥ अथर्व. १/१/१

इस मंत्र का देवता वाचस्पति है, अर्थात् वाणी का पति वाचस्पति परमात्मा मेरे अन्दर त्रिशप्ताः ३x७=२१ शब्द रूपों, जो सु औ जस् से लेकर ङि ओस् सुप् करने पर २१ शब्द रूप बनते हैं। इसी प्रकार तिप्, तस्, झि आदि १८ तिङ् प्रत्यय और अत्, वस् आन ये तीन धातुओं के आगे आकर २१ धातु रूप बनते हैं। इन सभी शब्द रूपों और क्रिया रूपों को परमात्मा मेरे अन्दर धारण करावे। "**त्रिषप्ताः**" अनेकार्थ वाचक भी है। सायणाचार्य ने ऋग्वेद (१/१९१/१२) के एक मंत्र में आये 'त्रिः सप्त' शब्द का 'विविध' अर्थ किया है। अतः शतशः और सहस्त्रशः जो शब्द रूप या धातुरूप बनते हैं, उस सम्पूर्ण वाणी के विस्तार का आधान वाचस्पति परमेश्वर मुझमें करें, यह भी मन्त्रार्थ सम्भव है। इसीलिए

लाहौर के डी०ए०वी० कॉलेज में "व्याकरण परिषद्" का प्रार्थना मन्त्र इसी मन्त्र को १९२७ ई० में नियत किया गया है। इस मन्त्र में तीन और सात शब्द पृथक्-पृथक् करने पर तीन काल, तीन वचन, तीन लिङ्ग, उरस्, कण्ठ और शिर तीन उच्चारण स्थान, ७ विभक्तियों तथा ३ और ७ का योग करने पर १० संख्या १० लकारों का भी बोधक या द्योतक बन जाता है।

भाषा विज्ञान या भाषा शास्त्र का मूल (बीज) भी वेद में ही प्राप्त होता है। भाषा की उत्पत्ति का प्राचीनतम सिद्धान्त "दिव्योत्पत्तिवाद" (Divine Theory) है। "**देवीं वाचमजनयन्त देवास्तां विश्वरूपाः पशवो वदन्ति।**" (ऋ० ८/१००/११) वस्तुओं के नामधेयों को धारण करने वाली भाषा को बृहस्पति ने सर्वप्रथम प्रेरित (प्रदान) किया "**बृहस्पतेः प्रथमं वाचो अग्रं यत् प्रैरत नामधेयं दधानाः**" (ऋ० १०/७१/१) ऋग्वेद के 'वागाम्भृणी सूक्त' (१०/१२५) में वाग्देवी कहती हैं-

अहमेव स्वयमिदं वदामि जुष्टं देवेभिरुत मानुषेभिः।
यं कामये तं तमुग्रं कृणोमि तं ब्रह्माणं तमृषिं तं सुमेधाम्॥

अर्थात् वाक् तत्त्व या भाषा ही वह दिव्य ज्योति है, जो मानव को ऋषि, देवता या विद्वान् बनाती है। भाषा के संस्कार और परिष्कार के सम्बन्ध में ऋग्वेद का वचन है- जैसे चलनी से सत्तू को छानकर स्वच्छ किया जाता है, उसी प्रकार विचारशील पुरुष अपने मन या प्रज्ञान की चलनी से वाणी को छानकर पावन बनाते हैं-

सक्तुमिव तितउना पुनन्तो यत्र धीरा मनसा वाचमक्रत।
अत्रा सखायः सख्यानि जानते भद्रैषां लक्ष्मीर्निहिताऽधिवाचि॥

(ऋ. १०/७१/२)

वाणी की गूढ़ क्षमता के सम्बन्ध में ऋग्वेद का उद्घोष है- मूर्ख व्यक्ति वाणी को देखता हुआ भी नहीं देख पाता है और सुनता हुआ भी नहीं सुन पाता है, किन्तु वही वाणी सरस्वती के समाराधक सुविज्ञ के सामने अपने रहस्य को उसी प्रकार प्रकट कर देती है, जिस प्रकार प्रेम में पत्नी अपने पति के समक्ष अपना अनावृत सौन्दर्य समर्पित करती है-

उत त्वः पश्यन्न ददर्श वाचमुत त्वः शृण्वन्न शृणोत्येनाम्।
उतो त्वस्मै तन्वं विसस्रे जायेव पत्य उशती सुवासाः॥

ऋ. १०/७१/४

प्रो॰ राधा वल्लभ त्रिपाठी के शब्दों में - "कहीं ओजस्वी और स्फुरित होती हुई पदावली तो कहीं अतिशय कोमल और मसृण शब्द विन्यास"। इस प्रकार सुकुमार और विचित्र दोनों काव्यमार्गों पर सहज गति से ऋग्वेद के कवि अग्रसर होते हैं। जीवन में माधुर्य की कामना करते हुए ऋषि अपनी वाणी में माधुर्य का अवतरण कर देते हैं-

मधु वाता ऋतायते मधु क्षरन्ति सिन्धवः। माध्वीर्नः सन्त्वोषधीः॥
मधु नक्तमुतोषसो मधुमत्पार्थिवं रजः। मधु द्यौरस्तु नः पिता॥
मधुमान्नो वनस्पतिर्मधु माँ अस्तु सूर्यः। माध्वीर्गावो भवन्तु नः॥

ऋ. १/९०/६,७,८

वेदों में काव्य सौन्दर्य एवं ललित कलाएँ

प्रसिद्ध काव्यशास्त्री आचार्य मम्मट कहते हैं- "**नवरसरुचिरां निर्मितिमादधती भारती कवेर्जयति**" अर्थात् नवरसों के योग से मनोहारिणी काव्य सृष्टि की रचना करने वाली कवि की भारती वाणी की जय हो। विश्व की सैंकड़ों भाषाओं में काव्य रचनाएँ होती हैं। इनके रचनाकार कविगण किस विश्वकवि के काव्य से प्रेरणा लेते हैं? कवियों का कवि, आदि कवि कौन है? इसका उत्तर भगवती श्रुति स्वयं देती है-

"**पश्य देवस्य काव्यं न ममार न जीर्यति**" (अथर्व. १०/८/३२) अर्थात् प्रजापति कवि का अमर अजर काव्य देखो, जो कभी जीर्ण नहीं होता और न कभी समाप्त होता है। परमात्मा का 'दृश्य काव्य' यह संसार है और 'श्रव्य काव्य' भगवान् वेद हैं। श्रव्य काव्य का वेदों से प्रेरणा लेकर और 'दृश्य काव्य' का इस जगत् के उपादानों को ही सामग्री बनाकर लौकिक कवि निर्माण करता है। वेद सभी सत्य विद्याओं का मूल है। अतः काव्य शास्त्र और काव्य ग्रन्थों का मूल भी वेद है। ऋग्वेद की रचना शैली में उत्कृष्ट कवित्व का दर्शन होता है। उषा देवी से सम्बन्धित ऋचाएँ मनोरम कल्पना, शृङ्गार और सौन्दर्य का उदाहरण प्रस्तुत करती हैं- "द्युलोक की कन्या उषा प्रकाश से जगमगाती हुई आ गई है। वह अन्धेरे को हटाती हुई अपने शुभ्र स्वरूप को इस प्रकार प्रकट कर रही है जैसे कोई सुन्दर रमणी सरोवर से स्नान करके बाहर निकली हो-"

एषा शुभ्रा न तन्वो विदानोर्ध्वेव स्नाती दृशये नो अस्थात्।
अप द्वेषो बाधमाना तमांस्युषा दिवो दुहिता ज्योतिषागात्॥

ऋ.५/८०/५

ऋग्वेद के नदी सूक्त में भाषा का प्रवाह, बलशालिता, गत्यात्मकता और अर्थ-सौन्दर्य सभी कुछ मनोरम है-

"ये उन्मुक्त होकर बहती नदियाँ, आनन्द से उच्छलित प्रमदाओं की भाँति, अठखेलियाँ करती हुई आगे बढ़ रही हैं। ये सरिताएं क्या-क्या कर रही हैं, किन-किन पत्थरों को तोड़कर आगे बढ़ रही हैं, यह उन्हीं से पूछो।"

एता अर्षन्त्यलला भवन्तीर्ऋतावरीरिव संक्रोशमानाः।
एता वि पृच्छ किमिदं भनन्ति कमापो अद्रिं परिधिं रुजन्ति॥

ऋ. ४/१८/६

इस प्रकार वेदों में भावसौन्दर्य, अर्थगाम्भीर्य, उच्च कल्पनाएँ, रस, छन्द, अलङ्कार आदि सभी तत्त्वों का सुन्दर और प्रचुर समावेश पाया जाता है। महामुनि भरत ने स्वीकार किया है कि चारों वेदों से नाट्य शास्त्र की उत्पत्ति हुई है-

जग्राह पाठ्यमृग्वेदात् सामभ्यो गीतमेव च।

यजुर्वेदादभिनयान् रसान् आथर्वणादपि॥ (नाट्यशास्त्र १/१७)

नाट्यवेदं ततश्चक्रे चतुर्वेदांगसम्भवम्॥ (नाट्यशास्त्र १/१६)

अर्थात् ऋग्वेद से पाठ्य-संवाद, कथोपकथन, यजुर्वेद से अभिनय, सामवेद से गीत-सङ्गीत तथा अथर्ववेद से रस के तत्त्वों को लेकर भरत मुनि ने नाट्य वेद या नाट्यशास्त्र की रचना की है।

ललित कलाओं का मूल भी वेद है। नृत्य, गीत-सङ्गीत और वाद्य के लिए आजकल ललित कला शब्द का प्रयोग होता है। ब्राह्मण ग्रन्थों के रचना काल में इसके लिए शिल्प का प्रयोग होता था-

त्रिवृद् वै शिल्पं नृत्यं गीतं वादितमिति। कौषी. ब्रा. २९/५

यजुर्वेद में कहा गया है कि ऋग्वेद और सामवेद में शिल्प विद्या अर्थात् नृत्य, सङ्गीत और वाद्य का भी वर्णन है। '**ऋक्सामयोः शिल्पे स्थः**।' (यजु.४/९) आङ्गिक आधार पर अर्थात् लय-ताल पर आश्रित अङ्ग-सञ्चालन 'नृत्त' है किन्तु नृत्य में भावाभिनय करना होता है।

अन्यद् भावाश्रयं नृत्यं नृत्तं ताललयाश्रयम्। (दशरूपकम्)

नृत्त सामान्यकोटि के लोगों के लिए है, किन्तृ नृत्य में भावाभिनय होने के कारण विशेषज्ञता आवश्यक है। नृत्य के साथ सङ्गीत और वाद्य की भी सङ्गति होती है। नृत्य में विविध रूप धारण करने की तुलना मोर, गन्धर्व और अप्सराओं से की गई है- "**आनृत्यतः शिखण्डिनो गन्धर्वस्याप्सरापतेः।**" (अथर्व. ४/३७/७)। ऋग्वेद में यह वर्णन मिलता

है कि- 'खुले मैदान में कृष्णमृगों का नृत्य हुआ और उसमें गरुड़ पक्षियों ने गीत गाया' -

सुपर्णा वाचमक्रतोप द्यवि आ खरे कृष्णा इषिरा अनर्तिषुः।

ऋ. १०/९४/५

सामवेद सङ्गीत प्रधान है। गीत या गान को साम कहते हैं। "**गीतिषु सामाख्या**" (मीमांसा दर्शन)। सङ्गीत के सात स्वर सा, रे, ग, म, प, ध, नि, सा, नि, ध, प, म, ग, रे, सा ये षड्ज, ऋषभ, गान्धार, मध्यम, पञ्चम, धैवत और निषाद सात स्वरों के संक्षिप्त सङ्केत हैं। इन सातों स्वरों का उद्गम सामवेद है। तैत्तिरीय संहिता कहती है कि 'देवता ऋचाओं या यजुषों में नहीं अपितु सामन् अर्थात् सङ्गीत में ही निवास करते हैं।' सङ्गीत ही उपासना काण्ड है, जो सामवेद का विषय है अर्थात् देवत्व की प्राप्ति के लिए सङ्गीत सहित उपासना आवश्यक है।

वेदों में विभिन्न वाद्यों का भी वर्णन है जैसे 'वीणा' अर्थात् सितार, 'तूणव' मुरली या बाँसुरी को कहते हैं, शङ्ख, तलव, आडम्बर, वाणीची, कर्करी, सूर्मि, गर्गर, गोधा, पिङ्गा, वेणु, नाड़ी, वाण, आघाट, आघाटी आदि विविध वाद्यों का वर्णन वेदों में है। ढोलक या तबला के लिए 'तलव' शब्द हैं। बड़े ढोल के लिए 'आडम्बर', हारमोनियम के लिए 'सूर्मि, बीन को 'कर्करी', झाँझ को 'आघाट' और मजीरा को 'आघाटी' कहते हैं।

यजुर्वेद में मंत्र है- "**महसे वीणावादम् आनन्दाय तलवम्**" (यजु. ३०/२०) '**शब्दाय आडम्बराघातम्**'। ऋग्वेद के '**सूर्म्यं सुषिराभिव**' (ऋ. ८/६९/१२) '**वदसि कर्करिर्यथा**' (ऋ. २/४३/३) मन्त्रों में सूर्मि-हारमोनियम, कर्करी-बीन का उल्लेख है। महर्षि पाणिनि की अष्टाध्यायी में मृदङ्ग बजाने वाले को 'मार्दंगिक', पणव या ढोल नगाड़ा बजाने वाले

को ‘पाणविक’ तथा दर्दुर मिट्टी के घड़े को बजाने वाला ‘दार्दुरिक’ कहा गया है- ‘**द्वन्द्वश्च प्राणितूर्य-सेनांगानाम्**’ (अष्टा. २/४/२), ‘**सत्यापपाशरूपवीणातुलश्लोकसेनालोमत्वचवर्णवर्मचूर्णचुरादिभयो णिच्**’ (अष्टा. ३/१/२५) तथा ‘**मड्डुकझर्झरादणन्यतरस्याम्**’ (अष्टा. ४/४/५६)।

इन शिल्प कलाओं अथवा ललित कथाओं का प्रयोजन आत्म संस्कृति अर्थात् चारित्रिक एवं नैतिक उत्थान है। ऐतरेय ब्राह्मण (६/२७) तथा गोपथ ब्राह्मण (२/६/७) का वचन प्रमाण है-

“**आत्मसंस्कृतिर्वाव शिल्पानि एतैर्यजमान आत्मानं संस्कुरुते॥**”

वेदे जल-वृष्टिविज्ञानम्

आचार्यो बृहस्पतिः[१]

अनादिनिधना भगवतीश्रुतिरेव सर्वासामनवद्यविद्यानामशेषविश्ववैज्ञानिकानां परिज्ञानानाञ्च निधानं शाश्वतिकमपौरुषेयं शास्त्रमित्यस्मत्सनातनी परम्परा। पृथिव्यां सर्वत्र या काचन सर्वभूतहितकारिणी सांस्कृतिकीसामाजिकीवैज्ञानिकीप्रवृत्तिः, सार्वभौमलोककल्याणकृत् कश्चित् क्रियाकलापो वा जरीजृम्भते तत्सर्वं यथाकथञ्चिद् वेदेषु पम्फुल्यमानं बीजरूपेण वर्त्तत एव **सर्वज्ञानमयो हि स** इत्युक्तेः।

परं परितापपरोऽयं विषयो यत् काले-काले कालप्रभावेण वेदार्थोऽपि सुतरां बाध्यतेतराम्। यथा यज्ञप्रधानात्मके मध्ययुगे विद्यार्णवैः सायणादिभिर्भाष्यकारैर्यज्ञप्रक्रियाप्रधानोऽर्थो व्यधायि। एवं यदि कश्चिद्विद्वन्मन्यः साम्प्रतिकभौतिकविज्ञानस्य वर्चस्वकाले भौतिकपरानेवार्थाननुलालयेच्चेन्मन्येऽत्याचरितमेव तत्तस्य। तच्च नैव यथार्थविदां श्रुतिपारदृश्वनां मनीषिणामभिनन्दनीयम् कर्हिचित्। यतो हि प्राधान्येन वेदार्थानामाध्यात्मिकाधिभौतिकाधिदैविकभेदात् त्रैविध्यं सुप्रसिद्धम्।

परमद्यात्र वेदसङ्गोष्ठ्यां वैज्ञानिकीवार्त्ता चर्चाविषयीभूता। तस्मात्

---

[१] **आचार्यः, नवप्रभातवैदिकविद्यापीठम्, उत्कलम्**

सर्वादौ किं तावद्विज्ञानम्। समीचीनतया परिशीलनम्। **मोक्षे धीः ज्ञानमन्यत्र विज्ञानं शिल्पशास्त्रयोरितिकोषकाराः।** मोक्षे शिल्पे शास्त्रे च या धीः सा ज्ञानम्। विज्ञानञ्चोच्यत एषा विशेषवृत्तिः। इतोऽपि सहजसरलया भाषयास्मदाचार्य्यैः स्वामि-विवेकानन्दपूज्यपादैर्विज्ञानं परिभाष्यते- **कस्यापि वस्तुन उपक्रमादुपसंहारं यावदेकं विश्लेषात्मकं ज्ञानमेवविज्ञानमिति।**

असंशयं तत्सर्वं वेदादेव प्रसिद्ध्यति। यतोह्यखिलमपि वैज्ञानिकतथ्यजातं पूर्वं ऋषिभिर्वैज्ञानिकैर्यदाविष्कृतमाविष्क्रियत आविष्करिष्यते वा तद्वेदेऽवर्त्तत, वर्त्तते, वर्तिष्यत इति निश्चप्रचम्। भविष्यति काले यत् किमपि नूतनं वैज्ञानिकतथ्यमाविर्भविष्यति तदपि वेदादेवावगन्तव्यम्। तस्माद्विज्ञानस्य ये नियमा अवलोक्यन्ते नैव ते तैस्तैर्वैज्ञानिकैर्निर्मिता अपित्वन्वेषणोपलब्धा एव। यथा 'एच् टू ओ' (H_2O) जलनिर्माणस्य विधिरस्ति। यदा ओषोजनकणमेकं (Oxygen) उद्जान (Hydrogen) कणद्वयेन सम्मिलति तदा जलं निर्मीयते। केनाप्यविनिर्मितः शाश्वतोऽयं नियमः। सदा सर्वत्रानेन विधिना कश्चित् जलं निर्मातुं प्रभवति। वैदिकविद्यामार्त्तण्डेन पूज्यस्वामि-समर्पणानन्देन स्वीयाथर्ववेदभाष्यप्रसङ्गे प्रथमकाण्डस्य तृतीयसूक्तस्य प्रथम एव मन्त्रे मित्रं शब्दं व्याख्यायता सङ्केतितं यदपान्तु मित्रावरुणौ जनकाविति। तत्र प्रमाणम् -

विद्युतो ज्योतिः परि सञ्जिहानं मित्रावरुणा यदपश्यतां त्वा।
तत्ते जन्मोत्तैकं वसिष्ठागस्त्यो यत्त्वा विश आजभार॥

(ऋ.७.३३.१०)

हे वसिष्ठ (जल) यन्मित्रावरुणौ प्राणोदानाख्यौ वायू विद्युतो हेतोः स्वीयं ज्योतिर्वायुभूतं रूपं परि सञ्जिहानं त्वां यदपश्यतां तत्त एकं जन्म

यदा त्वां विशः स्वसन्निवेशस्थानादगस्त्यो भूमण्डलवलयभूतो नाइट्रोजन (यवक्षारजान) प्रधानो वायुराजभार स्वोदरे प्रवेश्योदगच्छत्।

योऽयं लोकसाधारणः पवनाख्यया प्रसिद्धो वायुः स मित्रावरुणोरुभयोरपि संसर्गादुत्पन्न इति मैत्रावरुणिरुच्यते। वरुणस्य प्राधान्याच्च वारुणिरिति। जलन्तु मित्रावरुणयोर्न संसर्गादपितु समन्वयादुत्पन्नमित्यनयोर्विशेषः।

यदा मित्रावरुणौ जलं निर्मापयतस्तदा वरुणो हाइड्रोजन नामको वायुर्भवति। एवं हि वेदेषु बहुल जलोत्पत्तिविज्ञानं दृष्टिसरणिमायाति।

मित्रं हुवे पूतदक्षं वरुणं च रिशादशम्।
धियं घृताचीं साधन्ताम्॥ (यजु. ३३.५७)

जलस्य कृते पवित्रमूर्जस्वलं मित्रं दोषरहितं वरुणञ्च हुवे प्रार्थये।

सम्प्रति आस्ट्रेलियापातालादिदेशेषु वैज्ञानिकैरप्राकृतिकी वृष्टिः क्रियते। सा प्रक्रियाऽपि वेदे नूनं सन्निहिता स्यादेव। का नाम सा प्रक्रिया? वैज्ञानिका मेघखण्डस्योपरि शुष्कं हिमं प्रस्तारयन्ति। तेन मेघस्य तापांशो ह्रासं गच्छति। फलतः स्वल्पसमयावधौ वृष्टिः सञ्जायते। एषा प्रक्रिया ऋग्वेदे परिलक्ष्यते -

अहन् मित्रमृचीषम् और्णवाभसहीशुवम्।
हिमेनाबिध्यदर्बुदम्॥ (ऋ. ८.३२.२६)

देवमातृकेन प्रदेशेष्वनावृष्टिर्यथैका महती समस्या तथैवातिवृष्टिस्ततोऽपि भूयसी समस्या। उभयोरपि समस्योर्निराकरणं यज्ञमाध्यमेन कर्त्तुं शक्यते। हवनञ्चैकं विज्ञानसम्मतं वैदिकं कर्मकाण्डम्। यजुर्वेदेऽस्य सङ्केतो वर्त्तते।

विष्टम्भेन वृष्ट्या वृष्टिं जिन्व। (यजु. १५.६)

यद्यप्यतिवृष्टिनिवारणाय विश्ववैज्ञानिकैर्नैव साफल्यवैशिष्ट्यं

समधिगतम्। परं यज्ञमाध्यमेन वायोः परिचलनस्रोतसः (Convectional Current) परिवर्त्तनं विधाय मेघस्य दिक् परिवर्त्तनं विधातुं शक्यते। यज्ञस्य प्राचुर्य्येण मेघतापस्य वायुचापस्य च भिन्नता विधास्यते। मेघतापस्य शीतलीकरणेन वायुचापस्य स्वल्पीकरणेन च वर्षाधिक्यं सम्भवति। अनेन विधिना चेरापुञ्जीस्थितं वर्षालुमेघं मरुस्थलीं सम्प्रेष्य वृष्टिं कारयितुं शक्यत ति मतं पोषयति गाणितिक-उत्कलीयवैज्ञानिकः डॉ. उजागरपटेलमहाभागः। एतदर्थमधिकमनुसन्धानमपेक्ष्यते।

सर्वविद्यास्थानेन महर्षिदयानन्देन स्वामिना स्वीययजुर्वेदीयभाष्ये यज्ञो वर्षावृद्धिकारक इति प्रतिपादितम् -

अग्नये जुष्टं प्रोक्ष्याम्यग्नीषोमाभ्यां त्वा जुष्टं प्रोक्षामि।

(यजु. १.१३)

अत्रापि अग्नीषोमाभ्याम् ओषजन, उदजानश्च वायू परिगृह्येते।

व्रजं गच्छ गोष्ठानं वर्षतु ते॥ (यजु. १.२५)

मेघं प्राप्नोतु। अत्र का खलु वैज्ञानिकी प्रक्रिया? इति जिज्ञासायां शतपथे ऋषिणोक्तम् - **अग्नेर्वैधूमो जायते धूमादभ्रमभ्राद्वृष्टिः**। अनेन ब्राह्मणवचनेन वैज्ञानिक-वृष्टिविज्ञानं सम्यक् सङ्गच्छते। यतोहि यज्ञधूमेषु प्राचुर्य्येण रजः कणिका दृश्यन्ते। समिधाग्निना अङ्गारकणिका (कार्वन्) उत्पद्यन्ते सहैव अन्येऽपि पदार्था दग्धा अर्द्धदग्धा वा वायुमण्डले मिलिता भवन्ति।

भौतिकविज्ञानदृष्ट्यापि कणिकां परितः जलं शीतीभूयाकाशं मेघाच्छन्नं कुरुते। पाश्चात्यवैज्ञानिकः (Aitken) एतत् साधयति यत् वायौ स्थिता रजः कणिका जलयुक्तेन वायुना शीतीभूयावश्यातुं केन्द्रत्वेन कार्यं कुर्वन्ति। अनेन सिद्ध्यतितरां यत् वायौ स्थिता रजः कणिका मेघं सृजन्ति वर्षयन्ति च। अथर्ववेदे वैज्ञानिकं तथ्यमिदं सन्दृश्यते -

अपामग्निस्तनूभिः संविदानो य ओषधीनामधिपा बभूव।
स नो वर्षं वनुतां जातवेदाः प्राणं प्रजाभ्यो अमृतं दिवस्पति ॥

(अथर्व. ४.१५.१०)

महर्षिदयानन्देन स्वामिना यजुर्वेदीयभाष्ये दृढं प्रतिपादितं यत् होमाग्नौ समर्पिता पदार्थाः शीघ्रं वायुमण्डले प्रसृता भवन्ति। तेषां विभेदेन संघटनशक्तिर्वर्द्धतेतराम्। अयमेव वैज्ञानिकस्य ग्राममहोदयस्य गैसीयव्यापनशीलतायाः सिद्धान्तः (Grams laws of diffusion of gases) एवमेव सम्यक् निरीक्ष्यमाणेन ज्ञायते यत् सर्वेऽपि वैज्ञानिकसिद्धान्ता वेदेषु मन्त्रखण्डेषु सूक्ष्मरूपेण बीजरूपेण वा सन्निहिता वर्त्तन्ते। तस्मान्हर्षेर्मनोः **सर्वज्ञान मयो हि सः** इत्युक्तिर्यथार्था प्रतीयता। विस्तरभिया विरम्यतेऽन्ते च स एव सर्वज्ञानमयो वेद-पुरुषः प्रार्थ्यते-

न नूव्यसे नवीयसे सूक्ताय साधया पथः।
प्रत्नवद् रोचया रुचः ॥

(ऋग्वेदः ९.९.८)

वैदिकारोपाणां वैज्ञानिकस्वरूपम्

डा० शिवशङ्करः

प्रस्तावना

भारतीयसारस्वतसाधनाप्रभवो हि वेदः। एतस्यार्थो ज्ञानं वर्तते[1]। एष शिक्षा-कल्प-व्याकरण-निरुक्त-च्छन्दो-ज्योतिष-धर्मशास्त्र-पदार्थविज्ञान-साहित्य-कला-शिल्प-राजनीत्यायुर्वेद- धनुर्वेद-गान्धर्ववेद-वास्तुशास्त्रा-दिमूलकतां बिभर्ति। वेदाश्चत्वारः सन्ति।[2] तत्र विविधवर्णनविधयो

---

[1] विद ज्ञाने, विद सत्तायाम्, विद्लृ लाभे, विद विचारणे, एतेभ्यो " हलन्तश्च " (पाणिनि - शब्दानुशासन सूत्र ३/३/१२१) इति सूत्रेण करणाधिकरणयोर्घञ् प्रत्यये कृते वेद - शब्दः साध्यते। ... विदन्ति , विद्यन्ते - भवन्ति विन्दन्ति विन्दन्ते - लभन्ते विन्दन्ते - विचारयन्ति सर्वे मनुष्याः सर्वाः सत्यविद्यायैर्येषु वा तथा विद्वांसश्च भवन्ति ते वेदाः।

स्वामी दयानन्द सरस्वती - ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, वेदोत्पत्तिविषयः, पृष्ठ सं० २८२, शताब्दीसंस्करणम्।

विद्यन्ते ज्ञायन्ते लभ्यन्ते वा एभिः धर्म्मादिपुरुषार्था इति वेदाः - ऋक्प्रातिशाख्यस्य वृत्त्यारम्भे विष्णुमित्रद्वारा वेदशब्दस्य व्यतपत्तिः।

[2]चत्वारो वेदाः - महाभाष्य - पस्पशाह्निकम्।

ऋचो यजूंषि सामानि अथर्वाङ्गिरसश्च ये।

तैत्तिरीयब्रह्मणम् - काण्डम् - ३ प्रपाठकः - १२, अनुवाक् - ८

(३) सर्वज्ञानमयो हि सः। मनुस्मृतिः, २/७/

(४) ऋ० १०.१५१.५

दृश्यन्ते। तेष्वारोपरूपकाणां बाहुल्येन प्रयोगा अत्र विलोक्यन्ते। एतस्मिन् लेख वेदेष्वारोपाणामेव वैज्ञानिकस्वरूपनिरूपणे एष लघुः प्रयासः कृतो वर्तते। यदि कश्चन सामान्येन लौकिकसंस्कृतसाहित्यं पठितवानस्ति, वेदाङ्गानि ब्रह्मणादिग्रन्थांश्च नाधीतवानस्ति, आर्षदृष्टिस्तपस्वी च नास्ति, स आरोप-रूपकविधिना वेदोपात्तानां पदानां वाक्यानां चार्थसङ्गतिं कर्तुं सर्वथाक्षम एव भविष्यति। तत्राविवृत-निगूढ-वैज्ञानिक-रहस्यत्वादनर्थ-प्रसङ्गः समुदेष्यतीति। तथा च सति तस्य पाश्चात्यविपश्चित इव "वेदा अविपालगीतयः" इत्येव धारणा बद्धमूला भविष्यति। वैज्ञानिकत्वञ्चास्य दूरे स्थास्यति। एतत‌द्विपरीतं यत्र "रविः" इत्युक्ते यथा किरणजालापगततिमिरं दिनमेव दरीदृश्यते, तत्र सहजः प्रकाशः परिलक्ष्यत इति तथैव वेद इत्युक्ते जातवेदपूर्णपरब्रह्मणो निःश्वसितत्वात् सर्वज्ञानमयत्वात्[३] तस्य वैज्ञानिकत्वं सहजं स्वतः सिद्धं वा भवति इति।

आरोपा रूपकाणि च

प्रत्येकं पदार्थानां प्रत्यक्षवद्वर्णनमारोप इति। गुणो वा स्याद् गुणी, जडो वा स्याच्चेतनस्तत्र प्रत्येकं पदार्थमभिलक्ष्य सम्बोधने प्रयोग आहोस्विद् युष्मत्पदयुक्तवर्णनमिति यावत्। नायं वस्तुन्य वस्त्वारोपलक्षणलक्षितो दार्शनिक आरोपः, अध्यारोपः अध्यासो वा गृह्यते। वेदेष्वेवंविधा आरोपास्तात्पर्येण नाभिप्रियन्ते।

---

(५) ऋ० १०.१५१.१

(६) ऋ० १०.१५५.१

(७) चत्वारो वेदाः - महाभाष्य - पस्पशाह्निकम्।

ऋचो यजूंषि सामानि अथर्वाङ्गिरसश्च ये।

तैत्तिरीयब्रह्मणम् - काण्डम् - ३ प्रपाठकः - १२, अनुवाक् - ८

[३] सर्वज्ञानमयो हि सः। मनुस्मृतिः, २/७/

वेदेष्वारोपा रूपकत्वेन परिणमन्ते। यतो हि यदा तत्र जड़वस्तु वर्ण्यते तदा गम्यते यदिदं कथनमस्मदीयमवधारयतीति। अस्मास्विदं दयत इत्यादि। शृणोति श्रावयति च चेतन एव। अत एवारोपेण सहैव झटिति चेतनत्वसंस्कारः सञ्जायते। यदा च चेतनत्वसंस्कारो भविष्यति तर्हि तद्वस्तु नरत्वेन नारीत्वेन वा देवत्वेन देवीत्वेन वा शिष्टत्वेन दुष्टत्वेन वेत्यादिरूपेण निरूपयिष्यते। यथा कमलं स्त्रीद्योतक-कमलिनीत्वेन पद्मिनीत्वेन स्त्रीवद्वर्णयिष्यते। एवं रात्रिः स्त्रीवद् दिनं च पुरुषवद्वर्णयिष्येते। यस्य वाचकं प्रायः स्त्रीद्योतकं तत् स्त्रीवत् यस्य च वाचकं पुन्द्योतकं तत् पुम्वद् वर्णनमागच्छति। एवमारोपरूपकाणां वेदेषु बाहुल्येन वर्णितं वर्तते। वैदिकतत्त्वमिदमबुध्यन्तः सामान्यसंस्कृत-विदोऽनधीतवेदवेदाङ्गा विद्वांसो वाच्यं याथार्थ्येन शब्दानुसारममन्यन्त। यथा नदीपदं स्त्रीवाचकम्। गङ्गायमुनादीनां शब्दानां जलमयप्रवाह-वाच्यार्थतामविजानन्तो विद्वांसः स्त्रीरूपधारिणीदेवीत्वेनामन्यन्त। इत्त्थमासां विग्रहं कल्पितवन्तः। एवं पुन्द्योतकानामग्निवरुणादिदेवानामपि विग्रहं कल्पितवन्तः । पूजाऽपि समारब्धा। प्रसृता सर्वत्र चेयमनर्थपरम्परा सर्वा। अधुनाधस्तादुपन्यस्यन्ते कानिचन निदर्शनानि।

आरोपनिदर्शनानि

ऋच्यामाम्नातोऽयं मन्त्रः -

श्रद्धां प्रातर्हवामहे श्रद्धां मधन्दिनं परि।

श्रद्धां सूर्यस्य निम्रुचि श्रद्धे श्रद्धापयेह नः ॥[४]

एतस्य देवताऽस्ति कामायनी श्रद्धा। ऋषिका चाऽपि श्रद्धा देवीति।

अर्थः - वयमुपासकाः प्रातःकाले, माध्यन्दिने सूर्यस्यास्तवेलायां च

[४] ऋ० १०.१५१.५

श्रद्धां देवीम् आह्वयामः। हे श्रद्धे! इहाऽस्मान् श्रद्धाऽन्वितान् कुरु इति। एतस्मिन्नेव सूक्तेऽपरो मन्त्र उपात्तः -

श्रद्धयाग्निः समिध्यते श्रद्धया हूयते हविः।

श्रद्धां भगस्य मूर्धनि वचसा वेदयामसि॥[५]

अर्थः - श्रद्धयाऽग्निः प्रज्वाल्यते। श्रद्धया हविराहुतिर्दीयते। ऐश्वर्यस्य शिरसि स्थितां श्रद्धां विविधवचनेन जगति प्रख्यापयाम इति।

इह का नाम श्रद्धेति परिपृच्छायामुच्यते - पुरुषगतस्याभिलाष अस्याऽऽहोस्विद् आस्तिकविश्वासस्य नाम श्रद्धेति। श्रद्धा काऽपि शरीरधारिणी चेतनावती देवीह नाभिप्रेता, तथापि वेदे सम्बोधने "श्रद्धे" इति वर्ण्यते। अयमेवाऽऽरोपः इति। आत्मन एको दिव्यगुणो वर्तते श्रद्धेति। यदीह कश्चन विद्वान् देवीं विग्रहवतीं कल्पयति तर्ह्यनर्थ एवाऽऽपद्यते। अपरमेकं निदर्शनं प्रस्तूयते -

अरायि काणे विकटे गिरिं गच्छ सदान्वे।

शिरिम्बिठस्य सत्वभिस्तेभिष्ट्वा चातयामसि॥[६]

अत्र दुर्भिक्षदेवता सम्बोध्यते -

हे अदायिनि! नयनविहीने! विकटरूपधारिणि! सदा शब्दकारिणि! हे दुर्भिक्षाधिदेवते! त्वं कमपि गिरिं प्रति गच्छ, यत्र कोऽपि न स्यात्। त्वां मेघस्य पोषकजलैरथवा विशेषज्ञविहितोपायैर्वयं विनाशयाम इति। अत्र दुर्भिक्षस्य सजीवं वर्णनं विहितमस्ति। बीजरूपेण तदुपायोपि निर्दिष्टः। व्याख्यापेक्षत्वात्प्रतिपदमिह विशदीक्रियते -

अरायि = दुर्भिक्ष-पीडितप्रजासु दानसामर्त्यं न्यूनं जायते। अतो

---

[५] ऋ० १०.१५१.१

[६] ऋ० १०.१५५.१

दुर्भिक्षदेव्यदायिनीवेह वर्णिता। "रा दाने धातोः रायीति सिद्ध्यति तद्विपरीता, सम्बोधनेऽरायि! इति।

काणे= सहस्रशः क्षुत्पिपासानिपीडितानां नयनानि विकृतानि जायन्ते। अथवा धनिका निर्धनेभ्यो नेत्राणि मेलयितुं न वाञ्छन्ति, अत एवेयं देवी नयनविहीनाऽथवैकनयनीत्यभिहिता।

विकटे= अन्तरेणाऽन्नं दुर्भिक्षपीडितानामाकृतयो भयं जनयन्तीवेति को न वेत्ति?

सदान्वे= दुर्भिक्षपीडितप्रजानां हाहाकरशब्दाः परितः संश्रूयन्ते। त्राहि माम्, त्राहि मामिति चीत्कारैर्गुञ्जति दिगन्तरालम्। अत इयमाक्रोशकारिणी देवीति।

शिरिम्बिठस्य सत्वभिः= जलधरस्य जलैरथवा विद्वद्विहितोपायैः। मानवजीवने विपदादशासमाधानमत्र विवक्षितमिति।

चातयामसि= विनाशयाम इति। नैवाऽत्र काचिद्विग्रहवती चेतनादेव्यभिप्रियते। दुर्भिक्षदेव्याः कीदृशमिह संक्षिप्तं सोपायनिरूपणम्?

अन्यदेकमुदाहरणमधः प्रस्तूयते -

मन्युरिन्द्रो मन्युरेवास देवो मन्युर्होता वरुणो जातवेदाः।
मन्युं विश ईडते मानुषीर्याः पाहि नो मन्यो तपसा सजोषाः॥[७]

पापाचारदुष्टतादीनि प्रत्यसह्यक्रोधो मन्युः कथ्यते। पापाचारं प्रति क्रोध एवात्रेन्द्रो देवो होता वरुणो जातवेदा (अग्निः) वर्तते। मानुषीप्रजाः क्रोधं स्तुवन्ति - हे मन्यो! (क्रोध!) सप्रेम तपसा सहाऽस्मान् रक्षेति। इहाऽपि चेतनवन्मन्युः सम्बोध्य वर्ण्यते, नहि कश्चन शरीरी देवो मन्युरिति।

---

[७] ऋ १०.८३.२

प्राणदेवमादायैकमेकमुदाहरणम् -

असुनीते मनो अस्मासु धारय जीवातवे सु प्र तिरा न आयुः ।
रारन्धि नः सूर्यस्य संदृशि घृतेन त्वं तन्वं वर्धयस्व ॥[८]

अत्र प्राणदेवतानामाऽसुनीतिरुच्यते। प्राणशक्तिरसुनीतिरिति यावत्। हे असुनीते! अस्मासु मनः स्थापय, जीवितुमस्मभ्यमायुः प्रदेहि, सूर्यदर्शनार्थमस्मान् समर्थान् कुरु, घृतेन त्वं स्वशरीरं वर्धय। घृतेन प्राणाः पुष्टा भवन्ति, शरीरं च पुष्टं भवति। घृतमिहोपलक्षणम्। घृतसदृशैः पदार्थैः शरीरस्य रक्षाविधानमस्ति। प्राणदेवता न काऽपि चेतनदेवीति। परं चेतनवद्वर्णनमिह पश्याम इति।

उपसंहारः

ऋग्वेदाच्चत्वार्येवोदाहरणान्यत्र दिङ्मात्रेण प्रस्तुतानि सन्ति। अत्र यद्यपि श्रद्धा, अलक्ष्मी, मन्युः असुनीतिश्चाचेतना विद्यन्ते तथाप्येतासां चेतनवद्वर्णनं विहितमस्ति। एवमेव गवश्वक्षेत्रौषध्यग्निसूर्यवाय्वादिकाः पदार्था अपि वेदेषु सम्बोधनयुक्ता निरूपिताः सन्ति। एतेन वेदानां तात्पर्यं कदापि नावगच्छेद् यदेते पदार्था अस्माकीनाः प्रार्थनाः शृण्वन्तीति। प्रत्येकं वस्तुन आरोपस्वरूपेण वर्णनस्येयमेका रोचकप्रणाली वर्तते। प्रत्येकं वस्तु पारस्परिकोपकारकमिति परमार्थभावो व्यक्तीभवतीति।

एषा प्रणाली ब्राह्मणोपनिषदादिग्रन्थेष्वपि प्राप्यन्ते। यथा- "**तं तपोऽब्रवीत्। प्रजापते! तपसा वै श्राम्यसि...**"[९] उपनिषदि स प्रसङ्गो यत्र प्राणवाङ्मनश्चक्षुश्श्रोत्राणि शरीरविधारणेऽहमहमिकया आत्मनो वरिष्ठतायै

[८] ऋ० १०.५९.५

[९] तं तपोब्रवीत्। प्रजापते तपसा वै श्राम्यसि। अहमु वै तपोऽस्मि। मां नु यजस्व। तं श्रद्धाऽब्रवीत्। प्रजापते श्रद्धया वै श्राम्यसि। अहमु वै श्रद्धाऽस्मि। मां नु यजस्व। तं सत्यमब्रवीत्। तं मनोऽब्रवीत्। इत्यादि तैत्तिरीयब्रह्मणम् ३.१२.४

विवदन्ते।[10]

संस्कृतसाहित्येष्वप्येवं विधान्यारोपोदाहरणानि प्राप्यन्ते।

चित्तभ्रमरमेघादयः सम्बोधनयुक्ताः कान्तपदावलयः काव्येषूपलभन्त इति।[11]

[10] अथ हैनं भार्गवो वैदर्भिः पप्रच्छ। भगवन् कत्येव देवाः प्रजां विधारयन्ते। कतर एतत् प्रकाशन्ते। कः पुनरेषां वरिष्ठ इति।१।

तस्मै स होवाच। आकाशो ह वा एष देवो वायुरग्निरापः पृथिवी वाङ्मनश्चक्षुः श्रोत्रञ्च। ते प्रकाश्याभिवदन्ति वयमेतत्प्राणमवष्टभ्य विधारयामः।२। तान् वरिष्ठः प्राण उवाच। मा मोहमापद्यथाहमेवैतत्पञ्चधात्मानं प्रतिभज्यैतद्बाणमष्टभ्य विधारयामीति। तेऽश्रद्धाना बभूवुः।३। सोभिमानादूर्ध्वमुत्क्रमत इव। तस्मिन्नुत्क्रामत्यथेतरे सर्व एवोत्क्रामन्ते। तस्मिन् प्रतिष्ठमाने सर्व एव प्रातिष्ठन्त। एवं ... वाङ्मनश्चक्षुः श्रोत्रं च। ते प्रीताः प्राणं स्तुवन्ति। ४। इत्यादि प्रश्नोपनिषदि द्वितीयप्रश्ने।

[11] रे चित्त! चिन्तय चिरं चरणौ मुरारेः।

वयं तत्त्वान्वेषान्मधुकर! हतास्त्वं खलु कृती।

व्याजस्तुतिस्तव पयोद! मयोदितेयम् ... इत्यादि

वेदेषु कृषिविज्ञानम्

डॉ० भाव प्रकाशः गांधी[१]

भारतीयसमाजे वेदशब्दः अन्वर्थसंज्ञां भजते - वेदः अर्थात् ज्ञानम् अपि च वेदः अर्थात् विज्ञानमपि भवति। इत्थं वेदशब्दे एव सृष्टेः सकलं ज्ञानं विज्ञानं च समाहितम्। वेदाः समस्तविद्यानां, बहुविधज्ञानानां, सकलकलानां विविधविज्ञानानां च निधानानि स्वीक्रियन्ते।[२] महर्षिः दयानन्दः सर्वासां सत्यविद्यानां पुस्तकं मन्वन् तेषां पठनं पाठनं श्रवणं श्रावणं च मनुष्याणां परमकर्तव्यमुद्घोषयामास। अत एव भारतीय-विचारपरम्परा लोकत्रयवृत्तम्, आश्रमचतुष्टयधर्माः, सेनापत्यं, दण्डनीतिः, सर्वभूतसाधनानि अपि च सर्वं भूतं भविष्यं वेदादेव साधयितुं यतते।

चातुर्वर्ण्यं त्रयो लोकाः चत्वारश्चाश्रमाः पृथक्।
भूतं भव्यं भविष्यं च सर्वं वेदात्प्रसिद्ध्यति॥
शब्दः स्पर्शश्च रूपं च रसो गन्धश्च पंचमः।
वेदादेव प्रसूयन्ते प्रसूतिर्गुणकर्मतः॥
बिभर्त्ति सर्वभूतानि वेदशास्त्रं सनातनम्।
तस्मादेतत्परं मन्ये यज्जन्तोरस्य साधनम्॥

---

[१] **सहायकः प्राध्यापकः, राजकीय विनयन महाविद्यालयः, सेक्टर-१५, गान्धिनगरम्, गुजरातम्**

[२] आर्यसमाजस्य तृतीयो नियमः - महर्षिः दयानन्दः

सैनापत्यं च राज्यं च दण्डनेतृत्वमेव च।
सर्वलोकाधिपत्यं च वेदशास्त्रविदर्हति॥[३]

तत्रैव वेदचतुष्टयस्य विषयचतुष्टयेऽपि अथर्ववेदस्य विषयरूपेणान्यतमो विज्ञानविषयो विवेचित:। महर्षि दयानन्द: ऋग्वेदादिभाष्यभूमिकायां परमेश्वरादारभ्य तृणपर्यन्तपदार्थेषु साक्षाद् बोधान्वयात् इमं विज्ञानम् आदिमं मुख्यं च मन्यते।[४] इत्थं वेदेषु विज्ञानस्य मूलं कुत्रचित् प्रश्नोत्तरविधिना, कुत्रचित् रहस्यरूपेण, कुत्रचिदलङ्कारमाध्यमेन कुत्रचिच्च बीजरूपेण वेविद्यते इति सुविदितमेव। तत्रैव विज्ञानस्य विभिन्नविषयेषु प्रमुखम् उपादेयं सर्वलोकोपकारकम् अनिवार्यं च विद्यते कृषिविज्ञानम्। **'माता भूमि: पुत्रोऽहं पृथिव्या:'**[५] इति डिण्डिमघोषं कुर्वन्त: ऋषयो स्वयं स्वात्मानं कृषकरूपेणाङ्गीचक्रु:। अपि च 'अन्नं वै ब्रह्म' इत्युपनिषद्वाक्यानुगुणं मानवजीवने आधारतत्त्वरूपेण अन्नस्य महत्त्वं सुविदितमेव समेषां सुधियाम्। अस्य चान्नस्य चोपलब्धि: कृषिकर्मणैव सम्भवति। तस्मात् ऋग्वेदे, यजुर्वेदे अथर्ववेदे च बहुत्र कृषिविज्ञानसम्बद्धा: बहव: सन्दर्भा: दरीदृश्यन्ते।

कृष् धातो: इक् प्रत्यये कृते कृषिशब्दो निष्पद्यते। अनेन कर्षणमिति कृषिरभिधीयते। व्यापकरूपेण विचारिते सति येन कर्मणा अन्नादीनां सुप्राप्तिर्भवति सा कृषिर्भवति। अन्नेनैव सम्पूर्णस्य प्राणिमात्रस्य स्थिति: सम्भवा। वेदस्य प्रमुखेष्वादेशेषु प्रधानमादेशं कृषिकर्मरूपेण कितवायऋषि: अक्षसूक्ते सर्वजनकल्याणाय ददौ- कृषिमित् कृषस्व

---

[३] मनुस्मृति: - १२.९८-१०१

[४] ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका - वेदविषयप्रकरणम्

[५] अथर्ववेद १२

इति।[६] यजुर्वेदे राज्ञः चत्वारि कर्तव्यानि निर्दिष्टानि सन्ति- १. कृष्यै- कृषेः उन्नतिः २. क्षेमाय- जनक्षेमकर्म ३. रय्यै- राष्ट्रस्य समृद्धिः ४. पोषाय- राष्ट्रस्य पुष्टिश्च।[७] तेषु प्रथमं कर्तव्यम् ऋषिः कृषिमेव मनुते। तथैव शतपथब्राह्मणे कृषिकर्मणः चत्वारः विभागाः विवेचिताः- १. कृषन्तः - क्षेत्रस्य हलादिना कर्षणम् २. वपन्तः - बीजस्य वपनम् ३. लुनन्तः - पक्वस्यान्नस्य कर्तनम् ४. मृणन्तः - मर्दनेन स्वच्छस्य अन्नस्य प्राप्तिः।[८] कृषिकर्मणे भूमिपर्जन्यौ नितरामपेक्षेते। अत एव अथर्ववेदस्यर्षिः उभाभ्यां नमन्नाह - **भूम्यै पर्जन्यपत्न्यै नमोऽस्तु वर्षभेदसे॥**[९] **'पर्जन्यादन्नसम्भवः'** इति गीतावचनं कस्य न विदितम्।[१०] ऋग्वेदे अस्य वचसः बीजं दृश्यते -

यज्ञ इन्द्रमवर्धयत् यद् भूमिं व्यवर्तयत्। चक्राण ओपशं दिवि॥[११]

यज्ञाद् मेघाः जायन्ते, ते वियति भवन्ति पर्जन्यरूपेण च भूमौ निपतन्ति। एताः वर्षाः कृषिकर्मणि सहायिकाः भवन्ति। वेदे एकत्र वर्षाणाम् लघुबिन्दवः अभ्रप्रुषः कथिताः।[१२] इन्द्रश्च मे मरुतश्च मे[१३] - वर्षाभिः सह मरुतामपि सायुज्यं पुनश्च तेषां सहयोगमपि काङ्क्षते ऋषिः - विश्वे अद्य मरुतो विश्व ऊती।[१४] वैदिकराष्ट्रीयप्रार्थनायां मन्त्रद्रष्टर्षिः

---

[६] ऋग्वेदः

[७] यजु. १.२२

[८] शतपथ ब्रा. १.६.१.३

[९] अथर्व. १२.१.४२

[१०] गीता - २.१४

[११] ऋग् - ८.१४.५

[१२] ऋग् १०.७७.१

[१३] यजु. १८.१७

[१४] यजु. १८.३१

राष्ट्रसमृद्ध्यर्थं कृषिवृद्ध्यर्थं निकामे निकामे पर्जन्यं कामयते।[१५] इत्थं कृषिवृष्टी सापेक्षौ भवतः; विना वृष्टिं कृषिः न सम्भवति।[१६] यजुर्वेदे एकस्मिन् मन्त्रे योग्यपयसा भूमिसेचनस्य उल्लेखो लभते। यथा -

सं मा सृजामि पयसा पृथिव्याः सं मा सृजाम्यद्भिरोषधीभिः।[१७]

तत्रैवान्यस्मिन्मन्त्रे जलेन सह उर्वरकस्य अपि च औषधीनामपि प्रयोगोऽपि कथितः।[१८]

वैदिके काले कृषिना सह गोपालनम् जनानां मुख्या वृत्तिः व्यवसायश्चासीदिति आर्च-याजुष-आथर्वणमन्त्रैः सुस्पष्टं ज्ञायते। उभे वृत्ती अन्योन्याश्रिते आस्ताम्। अत एव कृषिविचारेण सह वेदेषु बहुत्र गो-गोष्ठ-वृषभ-वर्षा-भूम्यादीनामुल्लेखो लक्ष्यते। मानवजीवनस्य अभिन्नाङ्गत्वेन गोपालनं पशुपालनं चावर्तत। वेदाः उपदिशन्ति - '**व्रजं कृणुध्वं स हि वो नृणानः**' अर्थात् गोष्ठं कुरुत यतः दुग्धादिपौष्टिकपदार्थानां अनेन प्राप्तिर्भवति। गावः सौभाग्यचिह्नानि भवन्ति ताः परमात्मनः प्रतिनिधित्वं कुर्वन्ति।[१९] एकत्र कथितम्-गवामागमनेन कल्याणप्राप्तिः भवति - **आ गावो अग्मन् उत भद्रमक्रन्**।[२०] गोषु वर्चसः-तेजसः-भगस्य-यशसः-दुग्धस्य-रसस्य च निवासं मन्त्रः निर्दिशति।[२१] गोमूत्र-गोमयादिना भूमिमुर्वरां कर्तुम्

---

[१५] यजु. २२.२२

[१६] कृषिश्च मे वृष्टिश्च मे। यजु. १८.९

[१७] यजु. १८.३५

[१८] सं वपामि समाप ओषधीभिः समोषधयो रसेन। यजु. १.२१

[१९] गावो भगो गाव इन्द्रो... गावो सोमस्य प्रथमस्य भक्षः। ऋग् - ६.२८.५

[२०] ऋग् - ६.२८.१

[२१] अथर्व. १४.२.५३-५८

उर्वरकरूपेण प्रयोगोऽपि एकत्र निर्दिष्टः।[२२] तत्र करीषशब्दः उर्वरकस्य कृते प्रयुक्तः। गवां तथैव कृषिकर्मणि वृषभाणां समुचितोपयोगोऽपि भवति स्म। प्रत्येकं परिवारे न्यूनातिन्यूनम् एका धेनूः भवेत्। अनेन गोरक्षा तु भवत्येव तेन सह तस्य मूत्र-गोमयादीनाम् उपयोगः कृषिकर्मणि अपि भवति।

अद्यतनं विज्ञानं कृषिकार्ये बहुविधानि संसाधनानि आविश्चकार किन्तु अनेन सह वृषभाणां पशूनां च कथमुपयोगो भवेदित्यत्र किंकर्तव्यविमूढो दृश्यते तत्रैव वैदिकं कृषिविज्ञानं विशेषेण सर्वभूतहितत्वं पश्यन् प्रकृतेः समस्तपदार्थानां समुचितोपयोगाय प्रतिबद्धो दृश्यते। अयं तात्विकभेदः वेदकालिकं विज्ञानं विशिष्टं निर्माति।

सृष्ट्युत्पत्तेरनन्तरं अन्नादीनामुत्पत्त्ये कृषिकर्मणः प्रारम्भो जातः। ऋग्वेदे उल्लेखोऽस्ति यत् कृषिकर्मणः प्रारम्भे देवाः पुरुषार्थिनः विद्वांसः आगच्छन् ततः ते परशुभिः वनानि कर्तयामासुः ततश्च तान् काष्ठान् उपनदं संस्थाप्य तान् ज्वालितवन्तः।

देवास आयन् परशूरं बिभ्रन् वना वृश्चन्तो अभिवृड्भिरायन्।
नि सुद्रवं दधतो वक्षणासु यत्रा कृपीटमनु तद्दहन्ति॥[२३]

अथर्ववेदे राजा वेनपुत्रो राजा पृथी अस्याः कृषेराविष्कारं चकार अपि च बहूनि अन्नान्युत्पादयामास इत्युल्लेखो मिलति ।

तां पृथी वैन्योऽधोक्, तां कृषिं सस्यं चाधोक्॥[२४]

अस्मिन्पुनीतकर्मणि देवाः अपि सहायकाः बभूवुः।[२५]

---

[२२] अथर्व. ३.१४.३

[२३] ऋग्.- १०.२८.८

[२४] अथर्व. ८.१०.११

अस्मिन्कर्मणि इन्द्रः पूषा च संलग्नौ अभवताम्। यतः कृषिणा अन्नेन च मनुष्यस्य जीवनं व्यवतिष्ठति।

ते कृषिं च सस्यं च मनुष्या उपजीवन्ति।[२६]

एतत्कृषिकर्म सुधियां सुखप्राप्तये कृतः प्रयत्नः निगद्यते। ते सुखाय हलं कर्षन्ति, बीजं च वपन्ति।[२७]

सीरा युञ्जन्ति कवयो युगा वि तन्वते पृथक्। धीरा देवेषु सुम्नयौ॥[२८]

भद्रकामाः ऋषयः भद्रमिच्छन्तः कृषिकर्मणा सम्बद्धानां हल-वृषभ-भूमि-पर्जन्यादीनां समेषां सुखं कामयन्ते।

शुनं सुफाला वि तुदन्तु भूमिं शुनं कीनाशा अनु यन्तु वाहान्।
शुनासीरा हविषा तोषमाना सुपिप्पलाः ओषधीः कर्तमस्मै॥[२९]
शुनं वाहाः शुनं नरः शुनं कृषतु लाङ्गलम्।
शुनं वस्त्रा बन्ध्यन्तां शुनमष्ट्रामुदिङ्गय॥[३०]

तत्रैव वेदेषु कृषेः कृते कीदृशी भूमिः आवश्यकी इत्यपि विचारो विद्यते। उर्वरा भूमिः अप्नस्वती,[३१] अनुर्वरा तु आर्तना भूमिः, पशुतृणाय च खिल भूमिः इति भेदत्रयी भूमिः कथिता। प्रकारान्तरेण ऊर्वरा-इरिण-शष्य इत्यपि भूप्रकाराः अवलोक्यन्ते। तत्रैव कृषेः द्वौ भेदौ प्रकीर्तितौ

---

[२५] इन्द्रः सीतां निगृह्णातु तां पूषाभिरक्षतु।
सा नः पयस्वती दुहामुत्तरामुत्तरां समाम्॥ अथर्व. ३.१७.४

[२६] अथर्व. ८.१०.२४

[२७] ऋग् १०.१०१.३

[२८] ऋग् १०.२८.८

[२९] ऋग् ४.५७.८

[३०] ऋग् ४.५७.४

[३१] अथर्व- १४.२.२४

वर्ष्यकृषिः- वर्षानिर्भरा कृषिः, अवर्ण्यकृषिश्च - कूप-तड़ागादि साधनाधारिता कृषिः।[३२] अथ च कृषिप्राप्तस्य अन्नस्यापि द्वौ भेदौ लभेते कृष्टपच्यान्नम् - हलादिभिः कृषिद्वारा प्राप्तान्नम्, अकृष्टपच्यान्नम् - वनादिषु प्राप्तान्नम्।[३३] कृष्यर्थं कुल्याद्वारा, तड़ागद्वारा, नदीद्वारा कूपद्वारा वा सिञ्चनं क्रियते स्म। ऋग्वेदे कुत्रिमजलस्रोतसः कृते 'अवत' इति शब्दः भूयसा प्रयुक्तः।[३४] ऋग्वेदे कूपशब्दस्य[३५] प्रयोगो वर्तते जलप्रदानायैव वरुणदेवः प्रप्रार्थितः ऋषिभिः अथर्ववेदस्य वरुणसूक्तस्य मन्त्रैः। कृषिभूमेः स्वामित्वविषये मतभेदो वर्तते। कृषिक्षेत्रस्याधिकारः कस्याश्चित् जात्याः नासीत् अपि तु वैयक्तिकाधिकारविषयः आसीत् कृषिकर्म आत्मनः उदरपूर्त्यर्थमेव न अपितु लोकहिताय अपि भवति स्म। यथा -

इमानि त्रीणि विष्टपा तानीन्द्र विरोहय।
शिरस्ततस्योर्वरादिद म उपोय रे इति।[३६]

कृषिकार्याय विविधोपकरणानां प्रयोगं चक्रुः जनाः। भूमिखननाय काष्ठनिर्मित- लौहाग्रखनित्रस्योपयोगं कृत्वा बीजवपनं कुर्वन्ति स्म कृषकाः। खनित्रस्य कृते वेदेषु 'बृक' शब्दस्य प्रयोगो लक्ष्यते।

दशस्यन्ता मनवे पूर्व्यं दिवि यवं बुकेन कर्षधः।
यवं बृकेनाश्विना वपन्तेषा दुहन्ता मनुषाय दस्त्रा॥[३७]

हलस्य कृते साधारणं नाम 'लांगल' अथवा 'सीर' इत्यासीत् -

---

[३२] यजु. १६.३८

[३३] कृष्टपच्याश्च मे... यजु. १६.३८

[३४] ऋग् १.५५.८, ४.१७.१६

[३५] ऋग् १.१०५.१७

[३६] ऋग् ८.९१.५

[३७] ऋग् ८.११७.२१

लाङ्गलं पवीरवत्सुशीमं सोमसत्सरु।

उदिद्वपतु गामवि प्रस्थानदरथवाहनं पीवरीं च प्रफर्व्यम् ॥[३८]

दात्रेण सस्यकर्तनं कृत्वा खलं प्रति आनीय धान्यं भिन्नं क्रियते स्म।[३९] सूर्पेण सस्यस्वच्छीकरणप्रक्रिया सम्पाद्यते स्म।[४०] धान्यकारः सस्यस्वच्छी-करणकार्यं करोति स्म (धान्यकृत् ऋक.-१०/७१/२)। सस्यमापनाय 'उर्वर' इत्यस्य प्रयोगं बभूव।[४१] स्थिविभ्यः यवानां (धान्यानां) संग्रहः गेहेषु क्रियते स्म ॥[४२]

यजुर्वेदे द्वादशप्रकारकाणामन्नानां यथा - व्रीहि-यव- माष- तिल-मुद्ग-खल्व-प्रियंगु-अणु-श्यामाक-नीवार-गोधूम-मसूरानामुल्लेखो वर्तते। अत वक्तुं शक्यते धान्यप्रधाना कृषि: वैदिकयुगे क्रियते स्म। फलवृक्षाणां वपनं भवति स्म वा वनेषु स्वतः प्रादुर्भाव: सञ्जायते स्म इति निश्चितरूपेण कल्पयितुं न शक्यते।[४३] यवानामुत्पादनं ग्रीष्मकाले तथा सस्यस्य (अन्नस्य) उत्पादनं शरदृतौ बभूव।[४४] मासतिलादीनां वपनं वर्षाकाले भवति स्म। तैत्तिरीयसंहिताऽनुसारं वर्षे वारद्वयम् उत्पादनं भवति स्म उर्वरकस्य कृते ऋग्वेदे क्षेत्रसाधस इति शब्दो प्राप्यते करीष- शकन्-शकृत् इति वेदेषु ऊर्वरकस्य कृते इमे शब्दा: सन्ति।

मूषकपतङ्गादिभ्यः सस्यसंरक्षणाय विविधाः प्रार्थनाः अथर्ववेदे चक्रुः ऋषयः छान्दोग्योपनिषदि मटचीद्वारा कुरुप्रेदेशः नष्टोऽभूत् इति

---

[३८] अथर्व. ३.१७.३

[३९] अथर्व. ३.१७.१

[४०] ऋग् ८.११७.२१

[४१] ऋग् १०.७१.२

[४२] तमुर्दर न प्रागता यवेन। ऋग् २.१४.११

[४३] पर्वतेभ्यो वितूर्या निर्गा उपे यवमिव स्थविभ्य:। ऋग् १०.६८.३

[४४] ऋग् ३.४५.४

घटनोल्लेखः प्राप्यते।[४५] वैदिककार्याणां जीवननिर्वहणाय कृषेः अधिकं महत्त्वमासीत् अत एव ते क्षेत्रपतिनामकस्य देवस्य स्वतन्त्ररूपेण सत्तां स्वीकृतवन्तः, सस्यसम्पन्नतायै तस्य स्तुतिमपि चक्रुः। यथा -

शुनं नः फाला वि कृषन्तु भूमिं शुनं कीनाशा अभि यन्तु वाहैः।
शुनं पर्जन्यो मधुना पयोभिः शुनासीरा शुनमस्मासु धत्तम्॥[४६]

वैदिकार्याः कृषिना सह पशुपालनमपि कुर्वन्ति स्म यतः गो- अश्व- कुक्कुर - मेष - महिष- अज-गर्दभ-हस्ति-इत्यादि शब्दानामुल्लेखो वर्तते ऋग्वेदे।[४७] तत्र पशूनां त्रिषु विभागेषु विभाजनं दृश्यते-वायव्याः आरण्याः ग्राम्याश्च।[४८] गौस्तु गङ्गेव आदिकालात् भारतीयजनानां कृते मातास्वरूपा अत: नदीनां महत्त्वेन सह धेनूनां महत्त्वमपि अङ्गीकृतवन्तः वैदिकऋषय: अत: ते ऊचुः-

आ गावो अग्मन्नुत भद्रमक्रन्त्सीदन्तु गोष्ठे रणयन्त्वस्मे।
प्रजावती: पुरुरूपा इह स्युरिन्द्राय पूर्वीरुषसो दुहानाः॥[४९]

कृषिकार्ये पशूनां महती आवश्यकताऽऽसीत्, अत एव वृषभस्यापि स्तुतिमकुर्वन् ऋषयः अथर्ववेदे (४/११)। पृथिव्याः पोषणकर्ता गौ उच्यते अथर्ववेदस्य तृतीयकाण्डस्य षड्मन्त्रात्मके गोष्ठसूक्ते गवानां कृते प्रार्थनाम् उचुः ऋषयः।

सं वो गोष्ठेन सुपदा सं रटया सं सुभूत्या।
अहर्जातस्य यन्नाम तेना वः सं सृजामसि॥ [५०]

---

[४५] मचहीहतेषु कुरुषु। छान्दोग्योपनिषद् १.१०.१

[४६] ऋग् ४.५७.८

[४७] ऋग् १.६४.८

[४८] ऋग् १०.६४.८

[४९] अथर्व. ३.१४.१

एवं वैदिकानां कृषिः तथा कृषिचिन्तनं लोकोपकाराय आसीत्। एतावद्भिः प्रमाणैः साधिते सत्यपि तदानीं कृषिविज्ञानमासीत् वा न इति यदि कश्चित् संशयात्मा प्रश्नं पृच्छति चेत् निरुक्तदिशा वयं एतावता एव अलं ब्रूमः - **नैष स्थाणोरपराधो यदेनमन्धो न पश्यति, पुरुषापराधः सः भवति पारावर्यवित्सु तु वेदितृषु भूयोविद्यः प्रशस्यो भवति।** अपि च संशयात्मानः न कदापि वेदमर्म ज्ञातुमर्हाः इति वेदवचसा सुस्पष्टमेव -

यस्तित्याज सचिविदं सखायं न तस्य वाच्यपि भागो अस्ति।
यदीं शृणोत्यलकं श्रृणोति न हि प्रवेद सुकृतस्य पन्थाम्॥
वाचं शुश्रुवां अफलामपुष्पाम्॥

उपर्युक्तप्रमाणैः निश्चप्रचं वक्तुं पार्यते यत् प्रार्थनासमन्विताः जनोपकारकाः भद्राः अदब्धासः, अपरितासः, उद्भिदः विद्योतन्ते कृषि-विज्ञानविचाराः वेदेषु नास्ति तत्र शङ्कावकाशः॥

---

[५०] अथर्व. ३.१४.१

भाषाविज्ञानस्य मूलं निरुक्तशास्त्रम्

डा० वेदव्रतः[१]

पावनी निर्झरिणी निर्बाधतयानवरतं प्रवहन्ती सकलजनमानसं न केवलं तर्पयति, पावयत्यपितु तान् पथमपि प्रदर्शयति। अपौरुषेया वेदाः सकलकलाकलनेन करुणावरुणासिन्धुना जगदीश्वरेण प्राणिमात्रस्य कल्याणाय कलिताः। वेदानां सर्वज्ञानमयत्वं प्राणिकुलोपकारकत्वं न केवलं भारतीयाः मनीषाः मन्वते अपितु पाश्चात्या विपश्चितोऽपि विषयेऽस्मिन् भारतीयं मतमामनन्ति।

यद्यपि पुराकाले वेदानां पठनं पाठनं शिक्षाव्यवस्थायाम् अभिन्नतयाभवत्। स्वाध्यायस्य स्वाध्याये तदानीन्तने दिष्टे क्लिष्टता नानुभूयत मानवैः। किन्तु कालान्तरे सकलज्ञाननिधीनां निगमानां विज्ञानज्ञाने क्लिष्टतामनुभवतां मानवानां कृते उदारचेतसः परमकारुणिका ऋषयो वेदाङ्गानि प्रणिन्यिरे।

तत्र षट्सु वेदाङ्गेषु निरुक्तं वेदपुरुषस्य श्रोत्रं निगदितमृषिभिः। साम्प्रतं पाठ्यमानविषयेषु भाषाविज्ञानमन्यतमं स्थानं भजते। निरुक्तशास्त्रं न केवलं वेदार्थवबोधने उपकारकं भवति अपितु

[१] **सहायकाचार्यः, संस्कृतविभागः, गुरुकुल-काङ्गड़ी (समविश्वविद्यालयः), हरिद्वारम्**

भाषाविज्ञानावबोधनेऽपि नितरां सहायकं भवति।

भाषँ व्यक्तायां वाचि[२] इत्यस्माद्धातोः **गुरोश्च हलः**[३] इति सूत्रेण अ प्रत्यये कृते **अजाद्यतस्टाप्**[४] इति सूत्रेण च स्त्रियां टाप् प्रत्यये कृते भाषा शब्दो निष्पन्नतामेति। भाषा एव मानवस्य सर्वव्यवहाराणां हेतुः प्रसज्यते। भाषया हीनस्य लोकस्य कल्पना एव असम्भवा भवति। भाषा न केवलं भावान् वितनोति अपितु प्राणिनम् एकतासूत्रे अपि ग्रथ्नाति।[५] ऋग्वेदे भाषेयं देवानां रसना अमृतस्य नाभिश्च निगद्यते-

जिह्वा देवानाम् अमृतस्य नाभिः।[६]

यथा विश्वकर्मा सकलं जगत् घटयति तथैव भाषा अपि सर्वान् व्यवहारान् जनयति अत एव भाषा विश्वकर्मा ऋषिरिति शतपथकारः प्रतिपादयति-

वाग्वै विश्वकर्मा ऋषिः। वाचा हीदं सर्वं कृतम्।
तस्माद् वाग् विश्वकर्मा ऋषिः।[७]

भाषाया एतन्महत्त्वमुररीकृत्यैव महाकविः दण्डी प्राह-

इदमन्धन्तमः कृत्स्नं जायेत भुवनत्रयम्।
यदि शब्दाह्वयं ज्योतिरासंसारन्दीप्यते॥[८]

कस्यापि वस्तुनः स्वरूपस्य संरचनायाः लाभस्य हानेश्च विषये

---

२ भ्वादिगणः, धातुपाठः

३ अष्टा० ३।३।१०३

४ अष्टा० ४।१।४

५ अहं राष्ट्री संगमनी वसूनाम्। ऋग्वेदः

६ ऋग्वेदः ४।५८।१

७ शत०ब्रा० ८।१।२।९

८ काव्यादर्शः

विशिष्टं ज्ञानं यया विद्याधिगम्यते सा विज्ञानं निगद्यते। मानवीयभाषाणां सूक्ष्मं व्यापकं च वैज्ञानिकमध्ययनं भाषाविज्ञानमूद्यते। न केवलं भाषाया ऐतिह्यमतीव प्राचीनम् अपितु भाषाविज्ञानस्य ऐतिह्यमपि अतीवप्राचीनं वर्तते। अतीवप्राचीनकालादेव भाषाविषयकविषयाणाम् अध्ययनस्य परम्परा संस्कृतसाहित्ये विद्यते। संस्कृतसाहित्ये यत्र तत्र चर्चिताः भाषाविज्ञानस्य सिद्धान्ताः साम्प्रतं काले विस्तारं प्राप्तस्य भाषाविज्ञानस्य मूलानि वर्तन्ते।

प्राचीनास्तपोधना मन्त्रद्रष्टार ऋषयो विदितवेदितव्या अधिगतयाथातथ्या अभूवन्। न कापि विद्या तेषां तिरोहिता अभवत्। एतेन हेतुना एव वेदानाम् अखिलधर्ममूलत्वं सर्वज्ञानमयत्वं च प्रसिद्धम्। वेदेषु केवलं गम्भीरसूक्ष्मविषयाणामेव विवेचना नास्ति अपितु भाषातत्त्वस्य अपि तत्र विवेचनाकारि ऋषिणा।[९] सर्वप्रथमम् ऋग्वेदे एव भाषोत्पत्तिविषयश्चर्चितः-

बृहस्पते प्रथमं वाचो अग्रं यत् प्रैरत नामधेयं दधानः।
यदेषां श्रेष्ठं यद्रिप्रमासीत् प्रेरणा तदेषां निहितं गुहाविः॥[१०]

वाक्तत्त्वस्य व्यापकताम् क्रान्तद्रष्टार ऋषय आदावेव ददर्शुः-

यावत् ब्रह्म प्रतिष्ठितं तावती वाक्।[११] **विराट् वाक्।**[१२]

वाक्तत्त्वं यथाविधि विज्ञाय हृदि निधाय एव मानवो जीवनस्य सार्थकतां भजते-

---

[९] ऋग्वेदः १०।१२५

[१०] ऋग्वेदः १०।७१।१

[११] ऋग् १०।११४।८

[१२] अथर्व० ९।१०।२४

ऋचो अक्षरे परमे व्योमन् यस्मिन् देवा अधि विश्वे निषेदुः।
यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति य इत् तद् विदुस्त ॥[13]

तदेवं सुतरां सुस्पष्टं यत् भाषाविज्ञानस्य सर्वादौ वर्णनं विश्वस्य आदिसाहित्ये वेद एव बभूव। विश्वस्य भाषावैज्ञानिकेषु आचार्ययास्कस्य विशिष्टं पदं विद्यते। आचार्ययास्काः महान्तो वैयाकरणाः अवर्तन्त। एभिः लिखितं निरुक्तं वेदार्थावबोधने नितरामुपकारकं वर्तते। आचार्ययास्केन विलिखिते निरुक्ते भाषाविज्ञानविषयाणि महान्ति तथ्यानि सन्निहितानि।

ध्वनिविज्ञानम् (Phonology) पदविज्ञानम् रूपविज्ञानं वा (Morphology) वाक्यविज्ञानम् (Syntax) अर्थविज्ञानम् (Semantics) च भाषाविज्ञानस्य प्रमुखानि अङ्गानि भवन्ति। भाषाविज्ञानस्य अमीषां समेषां चतुर्णामङ्गानां सर्वप्रथमम् आचार्यस्य यास्कस्य निरुक्त एव चर्चा विद्यते। ध्वनिविज्ञानस्य मूलं यद्यपि वेदाः प्रातिशाख्यग्रन्थाः सन्ति तथापि ध्वनिविज्ञानस्य विस्तृतविवेचनं सर्वप्रथमं निरुक्तेऽव दरीदृश्यते। ध्वनिपरिवर्तनस्य दिशः भाषाविज्ञानस्य महत्त्वपूर्णः विषयः। आगमलोपविपर्ययादयः ध्वनिपरिवर्तनस्य प्रमुखदिशः। वर्णागमः, वर्णविपर्ययः, वर्णविकारः, वर्णनाशः, तथा च धातोः अन्यार्थयोगः निरुक्तस्य पञ्च भेदाः।[14] यास्ककृतनिरुक्ते आदिलोपः, आदिशेषः, उपधालोपः, अन्तलोपः, उपधापरिवर्तनम्, आदिविपर्ययः, अन्तविपर्ययः, आद्यन्तविपर्ययः, एकवर्णलोपः, द्विवर्णलोपः, वर्णोपजनः अन्तिमवर्णपरिवर्तनञ्चेत्यादीनि विविधानि ध्वनिपरिवर्तनस्य उदाहरणानि विवेचितानि-

---

[13] ऋग्वेदः १।१६४।३९

[14] वर्णागमो वर्णविपर्ययश्च द्वौ चापरौ वर्णविकारनाशौ।
धातोस्तदर्थातिशयेन योगस्तदुच्यते पञ्चविधं निरुक्तम्॥ का० ६।३।१०९

प्रत्तम् अवत्तम् इति धात्वादी एव शिष्यते। अथाप्यस्तेर्निवृत्तस्थानेषु आदिलोपो भवति- स्तः, सन्तीति। अथापि अन्तलोपो भवति- गत्वा गतम् इति। अथापि उपधालोपो भवति- जग्मतुः जग्मुः इति। अथापि उपधाविकारो भवति- राजा दण्डी इति। अथापि वर्णलोपो भवति- तत्त्वा यामि इति। अथापि द्विवर्णलोपः- तृच इति। अथापि आदि-विपर्यय भवति- ज्योतिः, घनः, बिन्दुः, वाट्य इति। अथापि आद्यन्तविपर्ययो भवति- स्तोकाः, रज्जुः। अथापि अन्तव्यापत्तिर्भवति- ओघः, मेघः। अथापि वर्णोपजनः- आस्थत्, द्वारः, भरुजा इति।[१५]

द्वयोः विषमयोः ध्वन्योः संयुक्ते सति एको ध्वनिः अपरध्वनिं प्रभाव्य स्वानुकूलं करोति। एतत् समीकरणमुच्यते। पुरोगामी पश्चगामी च भेदेन समीकरणं द्विविधम्। पुरोगामिसमीकरणे पूर्ववर्तिध्वनिः अग्रवर्तिध्वनिं स्वानुकूलं करोति। यथा विष्+नु विष्णु। पश्चगामि-समीकरणे परवर्तिध्वनिः प्राग्ध्वनिं स्वानुकूलयति। यथा- धर्म - धम्म। निरुक्ते आचार्यः कूटस्य व्याख्यां कृतस्य इति करोति[१६] एतत् पश्चगामिनः समीकरणस्योदाहरणम्। एतेन ध्वन्यते यत् आचार्ययास्काः समीकरणेनापि परिचिताः अभवन्। इत्थं स्पष्टं यत् भाषाशास्त्रीयध्वनिविज्ञानस्य अङ्कुरा निरुक्ते विद्यमानाः सन्ति एतेषां सिद्धान्तानां विशदव्यवस्थितस्वरूपं साम्प्रतकालीन भाषाविज्ञाने दरीदृश्यते।

भाषोत्पत्तिसन्दर्भे शब्दानुकृतिविषयेऽपि निरुक्ते सामान्यविवादः विवेचितः।[१७] "प्लेटो" शब्दानुकृतिं भाषानिर्माणे महत्त्वपूर्णतममुपादानं

---

[१५] निरुक्तम् २।१

[१६] निरुक्तम् ५।२४

[१७] निरुक्तम् १।१२

स्वीकरोति। सिद्धान्तेऽस्मिन् आपद्रूपेण एतदुक्तुं शक्यते यत् गुहागर्तवृक्षवस्तुभिः आदिमानवः परिचितः आसीत्। तेषां नामकरणे प्राकृतध्वनीनामनुकृतेः कश्चिद्देशः न दृश्यते। आचार्ययास्कमते काकतित्तिरादयः केचित् शब्दाः एव एतादृशाः सन्ति ये प्राकृतध्वनीनामनुकृतेः निर्मिताः, एतेषामन्यरीतिभिरपि निर्वचनं सम्भवमस्ति। निरुक्तकारस्य एतेन सिद्धान्तेन तथाकथितस्य "बाउ बाउ" सिद्धान्तस्य निरकरणं स्वयमेव जायते।[१८] यतो यास्कः प्रतिनाम मूलधातुभिः व्युत्पन्नं मन्यते।[१९] भाषोत्पत्तिविषये यास्कस्य आधारभूत-सिद्धान्तः यत् सर्वेषां नाम्नां मूलं किमपि प्रारम्भिकतत्त्वं विद्यते, यत् धातुः कथ्यते। आचार्ययास्कमतं यत् सर्वशब्दानां निर्वचनं सम्भवमस्ति। आचार्ययास्कस्य निर्वचनविषये प्रथमनियमो यत् येषां शब्दानां स्वराः व्याकरणसम्बन्धिनियमाश्चानुकूलाः यस्मिंश्च धातुसम्बन्धिविकाराः दृश्यन्ते ते सामान्यरूपेण निर्वक्तव्याः।[२०] यथा - पचतीति पाचकः (डुपचष् पाके, ण्वुल् प्रत्ययः)। यास्कनिर्वचनस्य प्रथमनियमः अत्यन्तः संक्षिप्तो वर्तते अयं नियमः सर्वेषु शब्देषु न सङ्गच्छते अतस्तदीयः द्वितीयः सिद्धान्तः यत् व्याख्यात्मकधातुसम्बन्धिविकाराः यदि न दृश्येरन् तर्हि शब्दार्थमहत्त्वम् आदाय तदर्थस्य वाचकस्य साम्यम् आधारीकृत्य निर्वचनं कर्तव्यम्।[२१] इत्थं आचार्ययास्कः धातुसिद्धान्तस्य समर्थकः। आचार्ययास्कः सामयिक-भाषायाः स्थानीयभेदानां तेषाञ्च विशेषतानामपि निरुक्ते चर्चां करोति।[२२]

---

[१८] मैक्समूलर, भाषाविज्ञान, भाग १, पृ० ४०७-४१७

[१९] तत्र नामानि आख्यातजानीति शाकटायनो नैरुक्तसमयश्च। निरु० १।१३

[२०] तद्येषु पदेषु स्वरसंस्कारौ समर्थौ प्रादेशिकेन विकारेणान्वितौ स्याताम्। तथा तानि निर्ब्रूयात्। निरु० २।१

[२१] अथाऽनन्वितेऽर्थेऽप्रादेशिके विकारेऽर्थनित्यः परीक्षेत केनचिद् वृत्तिसामान्येन। निरु० २।१

[२२] निरु० २।२

भाषाविज्ञानस्य प्रधानतत्त्वं पदविज्ञानम्। अस्मिन् पदानां निर्माणस्य स्वरूपस्य विभागस्य च विषये विवेचनं क्रियते। आचार्ययास्कनिरुक्ते इमानि सर्वाणि तथ्यानि विद्यमानानि सन्ति। नामोख्यातोपसर्गनिपातभेदैः आचार्ययास्कः चत्वारि पदानि स्वीकरोति।[२३] भावप्रधानमाख्यातम्।[२४] सत्त्वप्रधानानि नामानि।[२५] सरलतया एतत् तथ्यमेवमपि प्रतिपादयितुं शक्यते यत् सिद्धावस्था साध्यावस्था इति भेदेन भावो द्विविधः। क्रियायाः साध्यावस्था आख्यातः सिद्धावस्था च नाम कथ्यते। ये विभिन्नार्थः ते उपसर्गाः[२६], येषां विविधार्थेषु प्रयोगाः क्रियते ते निपाताः।[२७] पदनिर्माणविषयेऽपि आचार्ययास्केन पक्षद्वयं प्रस्तूयते।[२८] पदविज्ञानस्य सरलं सुगमं सुव्यवस्थञ्च चिन्तनं निरुक्ते विद्यमानं वर्तते। निरुक्तस्यास्य पदविज्ञानस्य भाषावैज्ञानिकपदविज्ञाने प्रभावः स्पष्टरूपेण परिलक्ष्यते।

अर्थविज्ञानमपि भाषाविज्ञानस्य महत्त्वपूर्णाङ्गम्। अर्थः भाषारूपि-शरीरस्य आत्मा। अस्मिन् मुख्यरूपेण शब्दार्थसम्बन्धस्य अर्थनिर्धारणस्य च विषये चिन्तनं क्रियते। यद्यपि अर्थविज्ञानं भाषाविज्ञानदृष्ट्या नूतनविषयः, किन्तु संस्कृतवाङ्मये शब्दार्थविवेचना अतिप्राचीनतमा। लोकस्य सर्वप्राचीनग्रन्थे ऋग्वेदे अर्थमहत्ता अनेकत्र प्रतिपादिता।[२९]

---

[२३] चत्वारि पदजातानि। नामाख्यातोपसर्गनिपाताश्च। निरु० १।१

[२४] निरु० १।१

[२५] सत्त्वप्रधानानि नामानि। निरु० १।१

[२६] उच्चावचाः पदार्था भवन्ति। निरु० १।३

[२७] अथ निपाता उच्चावचेष्वर्थेषु निपतन्ति। निरु० १।४

[२८] (क) तत्र नामानि आख्यातजानि शाकटायनो नैरुक्तसमयश्च। १।११३

(ख) न सर्वाणि गार्ग्यो वैयाकरणानां चैके। निरु० १।१३

[२९] ऋचो अक्षरे परमे व्योमन् यस्मिन् देवा अधि विश्वे निषेदुः।

यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति य इत् तद् विदुस्त। ऋग्वेदः १०।७१।४

अर्थविज्ञानविषये आचार्ययास्कस्य योगदानमतुलनीयम्। निरुक्तस्य परमप्रयोजनं शब्दानां निरुक्तिरेव। आचार्ययास्केन शब्दार्थनिर्वचनानां प्रमुखाधारः अर्थरेव स्वीकृतः।[30] अर्थविज्ञानेन विना निर्वचनकल्पना अपार्था। अर्थमहत्त्वं प्रतिपादयन् आचार्ययास्कः लिखति अर्थेन-अनभिज्ञमानवः भारवाहकपशुः अथवा शुष्कस्थाणुरिव वर्तते। अर्थज्ञाता मानवः सकलैश्वर्यं प्राप्नोति तथा ज्ञानालोकेन समस्तपापानि विनाश्य ब्रह्मत्त्वं प्राप्नोति।[31] भाषायाः सार्थकता अर्थेनैव विद्यते। अर्थहीना भाषा वन्ध्या स्त्रीवास्ति। अर्थरेव भाषाधारः। अर्थो वाण्याः पुष्पं फलञ्च मन्येते।[32] यथा शुष्ककाष्ठं विना अग्निः न प्रज्वलति तथैव अर्थं विना ज्ञानं न भवति।[33]

भाषावैज्ञानिकाः अर्थविज्ञानस्य अन्तर्गते अर्थपरिवर्तनस्य कारणानि अपि विवेचयन्ति। अर्थपरिवर्तनस्य मुख्यकारणम् उदात्तादिस्वरा सन्ति। एतैः भेदैः अर्थभेदः जायते। आचार्ययास्कः शब्दानां निर्वचनप्रसंगे स्वारान् विशिष्टं महत्त्वं प्रददाति।[34]

उपर्युक्तेन विवेचनेन स्पष्टं भवति यत् आचार्ययास्कः स्वकाले अग्रगण्यो वरेण्यश्च भाषावैज्ञानिकः अवर्तन्त। एतेषां निरुक्तं भाषाविज्ञानदृष्टया निरुक्तिदृष्टया च अतिमहत्त्वपूर्णम्। आचार्ययास्कः निर्वचनविद्यां निर्वचनं च वैज्ञानिकस्वरूपं प्रदाता प्रथम आचार्यः अवर्तत।

---

[30] अर्थनित्यः परीक्षेत। निरु० २।१

[31] स्थाणुरयं भारहरः किलाभूदधीत्य वेदं न विजानाति योऽर्थम्।
योऽर्थज्ञ इत सकलं भद्रमश्नुते नाकमेति ज्ञानविधूतपाप्मा। निरु० १।१८

[32] अर्थः वाचः पुष्पफलमाह। निरु० १।२०

[33] यदधीतमविज्ञातं निगदेनैव शब्द्यते। अनग्नाविव शुष्कैधो न तज्ज्वलति कर्हिचित्॥ निरु० १।१८

[34] तद्येषु पदेषु स्वरसंस्कारौ समर्थौ प्रादेशिकेन विकारेणान्वितौ स्याताम्। निरु० २।१

असौ स्वीये ग्रन्थे निरुक्ते भाषाविज्ञानस्य निरुक्तिसम्बद्धाश्च नैका गवेषणाः एकत्रीकृतवान्। आचार्ययास्कस्य निरुक्तं प्राचीनानां भारतीयानां गवेषणानां प्रतिनिध्यभिलेखरूपे विद्यमानं वर्तते तथा च भाषाविज्ञानाध्ययनाय अतिमहत्त्वपूर्णमस्ति।

वैदिकशिक्षापद्धतेः वैशिष्ट्यविमर्शः

रविकुमारः म. रादडिया[१]

आधुनिकयुगे मानवेन बहुविधविकासः कृतः किन्तु विकासेन सह अनेकाः समस्याः अपि प्रादुर्भूताः। तेन प्रेम-सत्य-अहिंसा-संस्कृति-संस्कारादीनां मानवीयमूल्यानां ह्रासः जायमानः अस्ति। मानवीयसद्गुणाः एव व्यक्तेः समाजस्य च शान्तेः आधारीभूताः भवन्ति। एतेषां मानवीयमूल्यानां संरक्षणाय शिक्षापद्धतौ परिवर्तनमावश्यकमस्ति। यतोहि शिक्षा मानवजीवनस्य प्रमुखमङ्गं वर्तते। शिक्षया मनुष्यः सभ्यः संस्कारवान् च भवति। शिक्षयैव वयं सभ्यता-संस्कृति-संस्कार-इतिहासादीनां ज्ञानं प्राप्नुमः। समग्रविश्वस्य प्राचीनशिक्षापद्धतिः "**वैदिकशिक्षापद्धतिः**" एव अस्ति। यदा विश्वस्मिन् शिक्षानामकं किमपि तत्त्वं नासीत् तदा भारतीयसमाजे वैदिकशिक्षायाः प्रचलनमासीत्। मनुनाऽप्युक्तम्-

एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः ॥[२]

---

[१] **शोधच्छात्रः, गुजरातविश्वविद्यालयः, अहमदाबाद**

[२] मनुस्मृतिः-२.२०

अस्यां वैदिकशिक्षायां शिष्यः गुरुसान्निध्ये गुरुकुले निवसन् शिक्षां प्राप्नोति स्म। तदानीन्तनशिक्षा न केवलं सामाजिकी आसीत् अपितु अस्त्र-शस्त्र-संगीत-खगोल-ज्योतिष-राजनीतीत्यादीनामपि शिक्षणं भवति स्म।

वैदिककाले शिक्षास्थितिः अत्युत्कृष्टासीत्। तदानीन्तनशिक्षा राज्यप्रशासनापेक्षया स्वतन्त्राचार्यकुलाधीनासीत्। यस्य संचालनस्य सम्पूर्णदायित्त्वं कुलाधिपतेः आचार्यस्यैवासीत्। किन्तु तत्र राज्यप्रशासन-स्यापि एतद्दायित्त्वमासीत् यत्- विद्यार्थिनः यत्र आश्रमेषु अध्ययनरताः तत्र काऽपि क्षतिः न भवेत्।

इदानीमत्र अस्याः वैदिकशिक्षायाः प्रमुखाङ्गानां वर्णनं क्रियते। एतस्याः वैदिकशिक्षायाःप्रमुखानि षट् घटकतत्त्वानि भवन्ति-

१. शिक्षकः	**२. शिक्षार्थी**	**३. शिक्षाकेन्द्रम्**
४. शिक्षाविषयः	**५. पितरौ**	**६. समाजः**

१. शिक्षकः

महर्षिदयानन्देन शिक्षाप्रदात्रे त्रयः शब्दाः अधिकांशः प्रयुक्ताः -१. आचार्यः, २. गुरुः, ३.उपाध्यायश्च। तत्र यः साङ्गोपाङ्गवेदविद्याध्यापकः, सत्याचारग्राहकः,मिथ्याचारत्यागकारश्च भवति सः '**आचार्यः**'। यः सत्यग्रहणं असत्यत्यागञ्च कारयति सः '**गुरुः**'। पुनश्च यः वेदैकदेशं वेदाङ्गानि वा पाठयति सः '**उपाध्यायः**'इति[३]। आचार्ययास्कः अपि '**आचार्यः**'इतिपदं परिभाषयन् वदति- **आचार्यः आचारं ग्राहयति-आचिनोत्यर्थानाचिनोति बुद्धिं वा**[४]। अथर्ववेदे आचार्यशब्दस्य बहुशः प्रयोगः प्राप्यते[५]। अथर्ववेदे आचार्याय **मृत्युः, वरुणः, सोमः,ओषधिः,**

---

[३] स्वमन्तव्यामन्तव्यप्रकाशः- पृ.सं.-६

[४] निरुक्तम्।

[५] अथर्ववेदः- एकादशकाण्डेपञ्चमसूक्तम्

पयः इत्यादिशब्दाः अपि उल्लिखिताः[६]। मनुस्मृतावपिआचार्य-गुरु-उपाध्यायानां विषये श्लोकाः प्राप्यन्ते -

आचार्यः - उपनीय तु यः शिष्यं वेदमध्यापयेत् द्विजः।
सकल्पं सरहस्यञ्च तमाचार्य्यं प्रचक्षते॥[७]

गुरुः - निषेकादीनि कर्माणि यः करोति यथाविधि।
संभावयति चान्नेन स विप्रो गुरुरुच्यते॥[८]

उपाध्यायः - एकदेशन्तु वेदस्य वेदाङ्गान्यपि वा पुनः।
योऽध्यापयति वृत्त्यर्थमुपाध्यायः स उच्यते॥[९]

एते त्रयः अपि शिक्षके अन्तर्भूताः भवन्ति। शिक्षकाणां विषये महाकविकालिदासेनापि उक्तम् -

श्लिष्टा क्रिया कस्यचिदात्मसंस्था
संक्रान्तिरन्यस्य विशेषयुक्ता।
यस्योभयं साधु स शिक्षकाणां
धुरि प्रतिष्ठापयितव्य एव॥[१०]

श्लोकेऽस्मिन् उक्तमस्ति यत्शिक्षकाः शिक्षणकौशलसम्पन्नाः भवेयुः। न केवलं ज्ञानार्जने अपितु ज्ञानसङ्क्रमणे अपि ते दक्षाः स्युः। इत्थं आचार्य-उपाध्याय-गुरूणां कर्तव्यानि निर्दिष्टानि सन्ति। एवं प्रकारेण एते त्रयः अपिवैदिकशिक्षायाः प्रमुखं प्रथमञ्चाङ्गं भवति।

---

[६] आचार्यो मृत्युर्वरुणः सोम ओषधयः पयः।
जीमूता आसन्त्सत्वानस्तैरिदं स्वराभृतम्॥ अ.वे.- ११.५.१४

[७] मनु. २/१४०

[८] मनु. २/१४२

[९] मनु. २/१४५

[१०] मालविकाग्निमित्रम् - १.१६

२. शिक्षार्थी

वैदिककाले शिक्षार्थिनः सामान्याभिधानं '**ब्रह्मचारी**'इति आसीत्। ब्रह्मचारिपदस्य प्रथमप्रयोगः ऋग्वेदे प्राप्यते। एकस्मिन् मन्त्रे तादृशब्रह्मचारिणः उल्लेखः अस्ति यः विद्याग्रहणाय ब्रह्मज्ञानिनां पुरतः गच्छन् देवानामङ्गमभवत्[११]। छान्दोग्योपनिषदि द्विविधब्रह्मचारिणोः उल्लेखः प्राप्यते। एकस्तु आचार्यकुले स्थित्वा विद्याध्ययनानन्तरं गृहमागच्छति, द्वितीयस्तु आचार्यकुले एव सम्पूर्णजीवनं यापयति[१२]। आचार्यकुले ब्रह्मचारिणः प्रथमं नित्यकर्म आसीत्- प्रतिदिनं वनं गत्वा समिधानयनम्। ब्रह्मचारिणः द्वितीयं नित्यकर्म आसीत्- भिक्षाटनम्। भिक्षायामपि ब्रह्मचारी याभ्यःकाभ्यः भैक्ष्यं न स्वीकुर्यात्, याः समाजे भूयिष्ठाः प्रसंशनीयाः स्युः ताभ्यः भैक्ष्यं स्वीकुर्यात् अन्यथा आचार्यजायायाः अथवा स्वमातुः सकाशात् भैक्ष्यं स्वीकुर्यात्[१३]।

वैदिकशिक्षायाः आदर्शस्वरूपं शिष्याचार्ययोः सम्बन्ध आधारितमासीत्। द्वावपि प्रतिदिनं पाठारम्भपूर्वं प्रार्थयतः- **"सह नाववतु सह नौ भुनक्तु सह वीर्यं करवावहै तेजस्विनावधीतमस्तु मा विद्विषावहै"**[१४]। आचार्यः निष्कपटभावेन शिष्येभ्यः विद्यां प्रयच्छति।

---

[११] ब्रह्मचारी चरति देविषाद्विषः स देवानां भवत्येकमङ्गम्। ऋ.वे.- १०.१०९.५

[१२] त्रयो धर्मस्य स्कन्धा यज्ञोऽध्ययनं दानमिति।
प्रथमस्तप एव द्वितीयो ब्रह्मचर्याचार्यकुलवासी,
तृतीयोऽत्यन्तमात्मानमाचार्यकुलेऽवसादयन्। छा.उ.- २.२३.१

[१३] स एवं विद्वान् यस्या एव भूयिष्ठं श्लाघेत तां भिक्षेतेत्याहुस्तल्लोक्यमिति, स यद्यन्यां भिक्षितन्यां न विन्देदपि स्वामेवाचार्यजायां भिक्षेताथो स्वां मातरं, नैनं सप्तम्यभिक्षितातीयात्। श.ब्रा- ११.३.३.७

[१४] क. उ. शान्तिपाठः।

शिष्याः अपि एतदेव प्रार्थयन्ति यत् माम्, ममाचार्यञ्च रक्षतु[१५]। आचार्याः अपि श्रेष्ठशिष्यप्राप्तये कामयमानाः आसन्। सत्रारम्भे आचार्यैः प्रदीयमानाः आहुतयः तथ्यमेतत् पुष्टीकुर्वन्ति[१६]। इत्थं वैदिकशिक्षायाः द्वितीयमङ्गं शिक्षार्थी (ब्रह्मचारी) भवति।

३. शिक्षाकेन्द्रम्

वैदिककाले शिक्षाकेन्द्राणां कृते **गुरुकुलम्, आश्रमः, आचार्यकुलम्** इत्येतानि नामाभिधानानि आसन्। **यत्र निर्धारित-समयावधौ विधिवत् शिक्षाप्रदानं भवतिस्म तान्येवआश्रम-गुरुकुलाचार्यकुलानि कथ्यन्तेस्म**। एतानि विद्याकेन्द्राणि नगरात् बहुदूरमरण्येषु विद्यमानानि आसन्। आश्रमस्य अधिष्ठातुः ऋषेः आचार्यस्य वा तत्रैव निवासः भवति स्म। आश्रमे प्रवेशसमये शिष्याणां उपनयनसंस्कारः भवति स्म। उपनयनेन विना कोऽपि शिष्यः शिक्षाग्रहणं कर्तुं न शक्नोति स्म। उपनयनानन्तरं **सामान्यतः २५ वर्षाणि** शिष्यः गुरुकुले पठति स्म। किन्तु गोपथब्राह्मणे उल्लेखः प्राप्यते यत् **४८ वर्षपर्यन्तं ब्रह्मचर्यं धारयन् शिष्यः १२-१२ वर्षेषु चतुर्णां वेदानामध्ययनं** करोति स्म[१७]। आश्रमे शिक्षासमाप्त्यनन्तरं ब्रह्मचारिणः स्नानं कारयते स्म। तदनन्तरं सः **'स्नातकः'**इति उपाधिना भूषितः सन् समाजोन्नतये कार्याणि करोति स्म।

---

[१५] तन्मामवतु तद्वक्तारमवतु। अवतु मामवतु वक्तारम्। तै. उ.- १.१

[१६] आ मा यन्तु ब्रह्मचारिणः स्वाहा। वि मा यन्तु ब्रह्मचारिणः स्वाहा। प्र मा यन्तु ब्रह्मचारिणः स्वाहा। दमयन्तु ब्रह्मचारिणः स्वाहा। शमायन्तु ब्रह्मचारिणः स्वाहा। तै.उ. १.४.२

[१७] तस्मा एतत्प्रोवाचाष्टाचत्वारिंशद्वर्षं सर्ववेदब्रह्मचर्यं, तच्चतुर्धा वेदेषु व्यूह्य द्वादशवर्षं ब्रह्मचर्यं द्वादशवर्षाण्यवरार्द्धमपि स्तायश्चरेत् यथाशक्त्यपरम्। गो.ब्रा.-१.२.५

४. शिक्षाविषयः

वैदिककाले विविधविषयाः पाठ्यन्ते स्म। येषामनुमानं वयं संहिता-ब्राह्मण-आरण्यक-उपनिषत्सु उल्लेखितविषयैः कर्तुं शक्नुमः। छान्दोग्योपनिषदि नारदसनत्कुमारसंवादे तत्कालीनशिक्षायाः विविधविषयाणां संकेतः प्राप्यते। अत्र अध्ययनविषयरूपेण **१. ऋग्वेदः, २. यजुर्वेदः, ३. सामवेदः, ४. अथर्ववेदः, ५. इतिहासः** (history), **६. पुराणम्** (पुरातत्त्वम्, archaeology), **७. वेदाङ्गानि, ८. पितृविद्या** (नृवंशविज्ञानम्, anthropology), **९. राशिविद्या** (गणितशास्त्रम्, maths), **१०. दैवविद्या** (वर्षाविज्ञानादि, meteorology), **११. निधिविद्या** (खनिजविद्या, mineralogy), **१२. वाकोवाक्य** (विधिः तर्कशास्त्रञ्च, law & logic), **१३. एकायन** (नीतिशास्त्रम्, ethics), **१४. देवविद्या** (देवशास्त्रम्, mythology), **१५. ब्रह्मविद्या** (अध्यात्मम्, spiritual science), **१६. भूतविद्या** (जन्तुशास्त्रम्, zoology), **१७. क्षत्रविद्या** (शस्त्रविद्या, military science), **१८. नक्षत्रविद्या** (ज्यौतिषम्, astronomy), **१९. सर्पविद्या** (विषविज्ञानम्, toxicology), **२०. देवजनविद्या** (गन्धर्वविद्या, music) च उल्लेखिताः सन्ति[१८]। नारदेन एतासां विद्यानामध्ययनं कृतमासीत्[१९]। एतदतिरिच्य आश्रमेषु लौकिक-विद्यानामपि शिक्षा दीयते स्म।

५. पितरौ

वैदिककाले शिक्षाप्रदानकार्यं पित्रा अपि क्रियते स्म[२०]।

---

[१८] वैदिकसाहित्य एवं संस्कृति- पृ.सं.-२६३

[१९] छा. उ.- ७.१.२

[२०] भृगुर्वै वारुणिः पितरमुपससार अधीहि भगवो ब्रह्मेति। तस्मा एतत्प्रोवाच। अन्नं प्राणं चक्षुः श्रोत्रं मनो वाचमिति। तै. उ.- ३.१.१

एतदावश्यकं नासीत् यत् शिक्षार्थी अन्येषां गुरूणां समीपं गत्वैव शिक्षाग्रहणं कुर्यात्। यदि पिता विद्वान् अस्ति तर्हि पितुः समीपं स्थित्वा अपि तत्तद्विषयस्य प्रारम्भिकशिक्षां पुनश्च उच्चशिक्षामपि अध्येतुं शक्नोति स्म। यदि पितुः कस्यचिद्विषये ज्ञानं नास्ति तर्हि पुत्रं तद्विषयज्ञानाय अन्याचार्यस्य समीपं प्रेषयति स्म।बालकस्य शिक्षायां मातुः पित्रोः वा किं दायित्वं भवति एतद्विषये स्वामिदयानन्देनापि स्वकीये ग्रन्थे उल्लिखितं यत् - पितरौ अष्टवर्षपर्यन्तं स्वगृहैव बालकस्य शिक्षणं कुर्युः। नवमवर्षस्यारम्भे उपनयनं कृत्वा गुरुकुले प्रेषयेत्। गुरुकुले गुरवः विद्वांसः भवेयुःएतद् पित्रैव ध्यातव्यम्। पुनः स्वामिदयानन्देन यजुर्वेदभाष्ये अपि अध्यापकस्य गुणाः वर्णिताः। तत्रोक्तम् -

सं सीदस्व महाँ असि शोचस्व देववीतमः।
विधूममग्ने अरुषं मियेध्य सृज प्रशस्तदर्शतम्॥[२१]

इत्थं बालकस्य शिक्षायां मातृपित्रोः कानिचन प्रमुखानि कर्तव्यानि निर्दिष्टानि सन्ति।

६. समाजः

वैदिककाले शिक्षायाः समुन्नतस्थितेः कारणं तत्कालीनसमाजस्य शिक्षां प्रति उदात्तभावना आसीत्। समाजे आचार्यब्रह्मचारिणौ प्रति सम्मानभावना आसीत्। द्वावपि पूजनीयावास्ताम्। समाजे राजापेक्षया आचार्यब्रह्मचारिणोः सम्माननमधिकमासीत्। राजाऽपि एतौ प्रणमति स्म। कारणं यदस्ति वैदिकशिक्षापद्धतौ आचार्याणां महत्त्वं दृश्यते। अथर्ववेदे तत् प्रतिपादयन् कथितञ्चास्ति यथा -

यस्य राज्ञो जनपदे ह्यथर्वा शान्तिपारगः।
निवसत्यपि तद्राष्ट्रं वर्धते निरुपद्रवम्॥

[२१] स्वामिदयानन्दकृतयजुर्वेदभाष्यम् - ११.३७

तस्माद्राजा विशेषेण ह्यथर्वाणं जितेन्द्रियम्।
दानसम्मानसत्कारैर्नित्यं समभिपूजयेत्॥[२२]

मन्त्रेणैतेन ज्ञायते यद् यस्य राज्ञः जनपदे शान्तिपारगः अथर्वा निवसति तस्य राष्ट्रं निरुपद्रवं वर्धते नात्र संशयः। तथैव समाजस्योत्तमराज्ञश्च प्रथमं दायित्वं विद्यते वेदविदां जितेन्द्रियाणां निरभिमानिनामाचार्याणां दानसम्मानसत्कारैः सदा पूजनं कुर्यादिति। तस्मात् वैदिकशिक्षापद्धत्या सुराष्ट्रस्य निर्माणमवश्यं भविष्यतीति।

उपसंहारः

वैदिकशिक्षापद्धतिः सर्वप्राचीना सर्वोत्कृष्टा चासीत्। एषा पद्धतिः किमर्थं सर्वोत्कृष्टा इति चेत् - शिक्षायाः उद्देश्यं धनप्राप्तिः न अपितु मोक्षप्राप्तिः आसीत्। शिक्षायां राज्यप्रशासनस्य नियन्त्रणं नासीत् येन शिक्षा पूर्णरूपेण आचार्याणां नियन्त्रणे एव आसीत्। शिक्षायाः किमपि शुल्कमपि नासीत् येन निर्धनाः छात्राः अपि शिक्षणं प्राप्नुवन्ति स्म। शिक्षायाः पाठ्यविषयाः व्यापकाः आसन् येन छात्राणां शारीरिकः, बौद्धिकः, नैतिकः, सांस्कृतिक, आध्यात्मिकविकासश्च भवति स्म। शिक्षायाम् उत्तमशिक्षणविधीनां प्रयोगः क्रियते स्म। यथा- अनुकरणम्, व्याख्यानम्, वाद-विवादः, प्रश्नोत्तराणि, तर्कः, अभ्यासः, प्रयोगः, नाटकादिवैज्ञानिकपद्धतीनां प्रयोगः क्रियते स्म।

---

[२२]अथर्ववेदः - १.३२.३

वैदिक वस्त्रनिर्माण विज्ञान के वैदिक संदर्भ

डॉ० योगेन्द्र कुमार भानु[१]

वस्त्र निर्माण के शिल्प का अन्वेषण मानवीय विकास के इतिहास की महत्वपूर्ण घटना है। इससे भी महत्त्वपूर्ण यह तथ्य है कि विश्व साहित्य की प्रथम पुस्तक ऋग्वेद में वस्त्र शिल्प के पर्याप्त सन्दर्भ प्राप्त होते है। वैदिक संहिताओं में प्राप्त उल्लेखों के आधार पर हम वस्त्र शिल्प को तीन भागों में विभाजित कर सकते है

१. तन्तु (सूत्र) निर्माण।

२. बुनाई द्वारा वस्त्र निर्माण।

३. निर्मित वस्त्रों पर विविध शिल्पकारी।

१. तन्तु (सूत्र) निर्माण

ऋग्वेद संहिता में सूत्र (तन्तु) निर्माण का अनेकशः उल्लेख प्राप्त होता है। इतना अवश्य है कि ये उल्लेख विविध वर्णनों एवं सन्दर्भों मे हुए हैं। ऋग्वेद १.१४२.१ में "तन्तुं तनुष्व" कहकर तन्तु के विस्तार की चर्चा की गई है। इसी प्रकार एक स्थल पर नये नये सूत्रों के निर्माण की चर्चा है।[२] ऋग्वेद १.१६४.५ में कहा गया है कि विद्वान् (कवि) सात प्रकार के

---

[१] **कार्यवाहक प्राचार्य एवं सहाचार्य संस्कृत, राजकीय महावि., बिछीवाड़ा (डूंगरपुर)**

[२] ऋग्वेद १.१५९.१

तन्तुओं का विस्तार करते है अर्थात निर्माण करते है तथा "ओतु" बाने का भी निर्माण करते है।[३] इसी प्रकार तन्तुओं के विशेषण के रूप में "अदामानः" एवं "दामन्वन्त" विशेषणों का प्रयोग प्राप्त होता है, जो सूत्र (डोरी) एवं उसमें दी गई ऐंठनों की ओर सङ्केत करता है- "वत्सानां न तन्तयस्त इन्द्र दामन्वन्तो अदामनः सुदामन्।[४] इन सन्दर्भों के अतिरिक्त भी ऋग्वेद में वस्त्र वयन एवं तन्तु से सम्बन्धित अनेक सन्दर्भ प्राप्त होते है।[५] धागे की त्रिवृतता (अर्थात् तीन लड़ी वाला धागा) के भी सङ्केत प्राप्त होते है- तन्तुतन्वानस्त्रिवृतम्।[६] पुरुषों एवं विद्वानों के अतिरिक्त गृहकार्यों को सम्पादित करती हुई नारी रुई धुनना एवं सूत्र निर्माण आदि कार्य भी करती थी।[७] विवाह के समय पढ़ी जाने वाली एक अथर्वसंहिता की ऋचा में धागा कातना, वस्त्र बुनना, सीना पिरोना, कसीदे लगाना आदि कार्य नारी के पुनीत कर्त्तव्य माने गए है-

"या अकृन्तन्नवयन् याश्च तत्निरे या देवीरन्तां अभितो अददन्त।
तास्त्वा जरसे सं व्ययन्त्वायुष्मतीदं परि धत्स्व वासः॥"[८]

यह एक आश्चर्यजनक तथ्य है कि ऋग्वेद संहिता में सूत्र निर्माण हेतु प्रचलित साधन चरखे का प्रयोग प्राप्त नहीं होता है। बिना चरखे के सूत्र का निर्माण किस प्रकार किया जाता रहा होगा यह एक अन्वेषणीय तथ्य है?

सूत्र निर्माण हेतु कपास, रेशम एवं ऊन का प्रधानतया प्रयोग होता

---

[३] ऋग्वेद ६.२४.४.

[४] सप्ततन्तून् वितत्निरे कवयः ...।

[५] ऋग्वेद ८.१३ .१४.,९.२२.६-७,९.६९.६, ९.७३.९

[६] वही ९.८६.३२.

[७] वही २.३.६.,२.३८.४

[८] अथर्व १४.१.४५

था। सूती वस्त्रों अर्थात् कपास के धागे से निर्मित वस्त्रों के लिए 'वासः' शब्द का प्रयोग प्राप्त होता है।[९] यजुर्वेद में ऊन के धागे की चर्चा है "ऊर्णासूत्रेण कवयो वयन्ति"।[१०] ऊन के धागों के निर्माण के लिये भेड़ की ऊन का प्रयोग किया जाता था। ऋग्वेद में ऊन के लिये गान्धार प्रदेश की भेड़ों की श्रेष्ठता कही गई है- **"रोमशा गान्धारीणामिवाविका"**[११]। सायण के अनुसार रेशमी धागों के निर्माण के लिए "तृपा" नामक घास विशेष का प्रयोग किया जाता था।[१२]

प्रागैतिहासिक प्रौद्योगिकी के शोधकर्ता एच.डी. साकलिया ने मोहनजोदडों एवं रोपड़ में हुए खनन कार्य के आधार पर प्राचीन भारत में सूत्र प्रौद्योगिकी की विद्यमानता स्वीकार की है, उनके अनुसार सूत्र निर्माण हेतु कपास, रेशम एवं पटसन के प्रयोगों के सङ्केत मिलते है तथा सूत की कताई हेतु प्रयोग होने वाली तकलियों के सङ्केत प्राप्त हुये हैं। उन्होनें 'भारत में प्रागैतिहासिक प्रौद्योगिकी' नामक ग्रंथ में वस्त्र निर्माण विषयक अपने निष्कर्षों को इन शब्दों में निबद्ध किया है-[१३]

(क) कपास

१९६० तक कपास के प्रयोग का एक मात्र साक्ष्य मोहनजोदड़ो से मिला था। रोपड़ से प्राप्त मिट्टी के बर्तन पर कपास के रेशे की छाप के पता लगने से इस ज्ञान में वृद्धि हुई हैं। अब निवासा से एक अतिरिक्त साक्ष्य मिला है। जो मोहनजोदड़ों से प्राप्त कपास के रेशे अत्यन्त कोमल

---

[९] वही ९.५.२६.,६.१२४.२.,१४.१.२७.

[१०] यजु० १९.८०

[११] ऋग्वेद १.१२६.७.

[१२] अथर्व १८.४.३१ पर सायण भाष्य

[१३] भारत में प्रागैतिहासिक प्रौद्योगिकी पृ० ८७

हैं तथा थोड़ा दबाव देने पर टूट जाते हैं, तथापि कुछ निर्मित सामाग्री मिली है। जिनसे सूत की प्राकृतिक सर्किल बनावट प्रकाश में आई है। जिन रेशों का परीक्षण किया गया है उन सभी में फफूंद के कवक प्रवेश कर गये थे। उनका परिमाण निम्न प्रकार है-

१. रेशा: कपास

२. रेशे का वजन दो ओस प्रति वर्ग गज

३. ताने के गणक ३४

४. बाने के गणक ३४

५. ताने की सूतें २० प्रति इंच

६. बाने की सूतें ६० प्रति इंच

इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि यह कपास आजकल के अपरिष्कृत प्रकार के भारतीय कपास से मिलता जुलता था तथा गोसिपियम आरबोरियम से सम्बंधित पौधे से निकाला जाता था। (मार्शल १.३३) परवर्ती उत्खननों में प्राप्त नमूनों के परीक्षण से ही कपास के अस्तित्व तथा साथ ही कुछ भीतरी छाल के रेशें के उपयोग का सङ्केत मिला है (मैके १९३८, १, पृष्ठ ५९२ से ९४)

(ख) रेशम तथा पटसन

कपास तथा रेशम दोनों के नेवासा के ताम्र पाषाण स्तरों से तथा पटसन का चंदोली से प्राप्त होना प्रमाणित हो चुका है। इनका काल क्रमशः १२०० से १३००/ ईसा पूर्व है। (क्लटन ब्राक तथा अन्य, १९६१ पृ. ५५ से ५८ में गुलाटी)

(ग) कताई तथा बुनाई

कपास तथा पटसन के सूत तकलियों की सहायता से काते जाते

थें। जिनके अनेक नमूने चाहे साधारण सपाट, छेद वाले डिस्क हो अथवा बड़े अण्डाकार या गोलाकार सुपारी जैसे खण्ड हो, दोनों मिट्टी के बने सभी उत्खननों से मिले है। सिलाई की जानकारी बुर्ज होम में प्राप्त हड्डी की सुईयों तथा मोहनजोदड़ों एवं लोथल के अन्तर्गत उपलब्ध ताम्र कांस्य सुईयों से अधिक प्रमाणित होती है।

२. बुनाई द्वारा वस्त्र निर्माण

सूत्र निर्माण की भांति सूत्र से वस्त्र वयन (बुनना) के भी वैदिक संहिताओं में पर्याप्त सङ्केत प्राप्त होते हैं।[१४] वैदिक सहिताओं में वस्त्र निर्माता के लिए वसोवाय[१५] एवं वस्त्र बुनने वाली नारी के लिए 'वय्या'१५[१६] पदों का प्रयोग प्राप्त होता है। वस्त्र के लिए वैदिक ऋषि "वस्त्र"[१७] एवं "वाशांसि"[१८] शब्दों का प्रयोग करता है। शीत, ग्रीष्म एवं वर्षा से शरीर की रक्षा करने के कारण इसे "वर्म"[१९] भी कहा जाता है। वैदिक संहिताओं में वस्त्र वयन से सम्बंधित कतिपय पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग भी मिलता है। वस्त्र बुनने के आधारभूत यन्त्र करने के लिये

---

[१४] ... उषासानक्ता वय्येव रण्विते।
तन्तुं ततं संवयन्ती समीची... ॥ ऋ २.३.६.
मा तन्तुष्छेदि वयतो धियं मे...। ऋ.२.२८.५.
नांह तन्तु न विजानाम्योतुं न यं वयन्ति समरेअतमानाः। ऋ. ६.९.२,
इमे वयन्ति पितरो य आययुः प्रवयाप वयत्यासते तते। ऋ १०.१३०.१.

[१५] ऋ.१०.२६.६

[१६] ऋ २.३.६

[१७] अथर्व ९.५.२५.

[१८] वही ९.५.२६

[१९] वही९.५.२६

अथर्ववेद संहिता एवं ऋग्वेद संहिता में 'तन्त्रम्''[२०] पद का प्रयोग हुआ है। इसी प्रकार ताने के लिए तन्तु एवं बाने के लिए 'ओतु' पद का प्रयोग है।[२१] सूत्र को जिन खूंटियों की सहायता से ताना जाता था, उन्हें 'मयूख' कहा जाता था।[२२] बुनने की करधी के लिए 'तसर' शब्द का प्रयोग है।[२३]

वस्त्र का निर्माण आवश्यक गृहकार्यों में से एक माना जाता था अतएव अथर्ववेद में कहा है कि नारियाँ अपने पतियों के लिये स्वयं वस्त्र बुनती थी तथा यह वस्त्र सुख देने वाला होता था-

यो अन्ता यावतीः सिचो य ओतवो से च तन्तवः।

वासो यत्पत्नीभिरुत तन्नः स्योनमुप स्पृशात्॥[२४]

अथर्ववेद संहिता में ही युवतियों द्वारा वस्त्र वयन का उल्लेख प्राप्त होता है- तन्त्रमेके युवती ... वयतः।[२५] साथ ही पुरुषों द्वारा भी वस्त्र निर्माण का उल्लेख है- पुमानेतद वयति।[२६] यजुर्वेद संहिता में विद्वानों द्वारा वस्त्र बुनने का सङ्केत है- ऊर्णासूत्रेण कवयो वयन्ति।[२७] इसी प्रकार ऋग्वेद संहिता में भी विद्वानों द्वारा वस्त्र वयन का उल्लेख प्राप्त होता है।[२८] ऋग्वेद संहिता में ही पितरों द्वारा वस्त्र वयन का सङ्केत है।[२९] ऋग्वेद

---

[२०] अथर्व. १०.७.४२ एवं ऋ. १०.७१.९

[२१] अथर्व ९.९.६. एवं ऋ. ६.९.३

[२२] अथर्व १०.७.४४. एवं ऋ१०.१३०.२.

[२३] वही

[२४] अथर्व १४.२.५१.

[२५] अथर्व १०.७.४२

[२६] वही १०.७.४३.

[२७] यजु. १९.८०

[२८] ...कवेश्चित् तन्तु मनसा वियन्तः। ऋ. १०.५.३.

संहिता में उषा एवं रात्रि की तुलना कपड़े बुनने वाली नारी से करते हुये कहा गया है- 'उषासानक्ता वय्येव रण्विते, तन्तुं ततं संवयन्ती समीची[३०] अर्थात् ये उषा एवं रात्रि दोनों परस्पर अनुकूल होकर पट बुनने वाली स्त्री के समान चलती हैं एक अन्य स्थल पर ऋग्वेद में रात्रि की तुलना वस्त्र बुनने वाली स्त्री से की गई है।[३१]

अथर्ववेद संहिता में कातना-बुनना, सीना-पिरोना इत्यादि कार्य नारी के कर्तव्यों के अर्न्तगत बताये गये हैं।[३२] अथर्ववेद संहिता में एक मनोरम रूपक द्वारा बुनाई प्रक्रिया का वर्णन किया गया है, इसमें कालचक्र को करघा माना गया है। उस पर दिन, रात रुपी दो स्त्रियाँ वर्षरुपी वस्त्र बुनती है। उसमें छह ऋतुरुपी खूंटियाँ है। इसमें रात्रि ताना है और दिन बाना है। इनमें से एक धागे को आगे फैलाती है और दूसरी उसको संभालती है-

तन्त्रमेके युवती विरुपे अभ्याक्रामं वयतः षण्मयूखम्।
प्रान्या तन्तुंस्तिरते धत्ते अन्या नाप वृंणाते न गमातो अन्तम्॥[३३]

ऐसा ही एक रूपक ऋग्वेद में भी प्राप्त होता है। इसमें एक वृहद सूत्र-यज्ञ के दृश्य का वर्णन है। इस यज्ञ में तन्तुओं का ताना-बाना सब दिशाओं में फैला हुआ है। १०१ देवगण इस कार्य में संलग्न है। अनेक अनुभवी पितर इस कार्य का नेतृत्व कर रहे हैं और करघे के पास बैठे हुये

---

[२९] इमे वयन्ति पितरो य आययु:। ऋ. १०.१३०.१.

[३०] ऋ.२.३.६

[३१] ऋ.२.३८.४.

[३२] या अकृन्तन्नवयन् याश्च तत्निरे या देवीरन्तां अभितो अददन्त।
तास्त्वा जरसे सं व्ययन्त्वायुष्मतीदं परि धत्स्व वासः॥ अथर्व. १४.१.४५.

[३३] अथर्व. १०.७.४२.

व्यक्ति को आदेश देते है- अवय (आगे बुनो) अपवय (पीछे बुनो) प्रथम पुरूष कभी धागे को तानता है और कभी लपेटता है। वह साम गाते हुए अपने त्सर (तसर) को आगे पीछे फेंकता है-

यो यज्ञो विश्वतस्तन्तुभिस्तत एकशतं देवकर्मेभिरायत।
इमे वयन्ति पितरो य आययुः प्रवयाप वयेत्यासते तते॥
पुमा एनं तनुत उत् कृर्णत्ति पुमान् वितत्ने अधिनाके अस्मिन्।
इमे मयूखा उपसेदुरु सदः सामानि चक्रुः तसराण्योतवे॥[३४]

ऊनी एवं रेशमी वस्त्र -

ऋग्वेद संहिता में भेड़ की ऊन से वस्त्र बुनने का सङ्केत प्राप्त होता है।[३५] यजुर्वेद में विद्वानों के द्वारा ऊन के धागे से बुनाई करने का संदर्भ है।[३६] यह ऊन गान्धार की भेड़ों से बनती थी[३७] तथा ऊनी वस्त्र के लिए ऊर्णायुः पद का प्रयोग होता था।[३८]

अथर्ववेद संहिता में रेशमी वस्त्र का उल्लेख प्राप्त होता है वहाँ रेशमी वस्त्र के लिये 'तार्प्य' पद का प्रयोग हुआ है।[३९] आचार्य सायण के अनुसार यह वस्त्र 'तृपा' नामक घास से बनता था।[४०]

३. निर्मित वस्त्रों पर विविध शिल्पकारी

वैदिक संहिताओं में सूत्र निर्माण एवं वस्त्र बुनना क्रिया के साथ निर्मित वस्त्रों पर विविध शिल्पों के प्रयोग के सङ्केत प्राप्त होते है।

---

[३४] ऋ. १०. १३०. १-२

[३५] ...वासोवायोअवीनामा वासांसि मर्मृजत्। ऋ. १०.२६.६.

[३६] यजु. १९.८०

[३७] ऋ. १.१२६.७

[३८] यजु. १३.५०.

[३९] अथर्व. १८.४.३१

[४०] वही १८.४.३१ पर सायण भाष्य

अथर्ववेद संहिता में सुई से वस्त्र सिलने का उल्लेख है। वहाँ कहा गया है कि राका (पूर्णिमा) कभी न टूटने वाली सुई से कर्म रूपी वस्त्र सीती है।"[४१] यजुर्वेद में सिले हुए वस्त्रों पर कढ़ाई करने वाले कारीगर के लिये "पेशितृ" शब्द का उल्लेख प्राप्त होता है।[४२] वस्त्रों पर बेल-बूटे काढ़ने की कला को "पेशस" कहा जाता था तथा इस कार्य को करने वाली स्त्रियों के लिये यजुर्वेद में ही "पेशस्कारी" पद का प्रयोग किया गया है।[४३] अथर्ववेद[४४] एवं ऋग्वेद[४५] में भी सुई से सिलाई के सङ्केत प्राप्त होते है। वस्त्रों की सिलाई एवं पेशकारी के भाँति ही वस्त्रों की रङ्गाई का भी उल्लेख यजुवेद संहिता में प्राप्त होता है वहाँ वस्त्र रङ्गने वाली स्त्री के लिये "रजयित्री"पद का प्रयोग प्राप्त होता है।[४६]

वस्त्र निर्माण एवं मानवीय भावना

वस्त्र निर्माण की उक्त विधि एवं प्रविधियों के सङ्केतों के साथ ही वैदिक संहिताओं में वस्त्र निर्माण में मानवीय भावनाओं को भी स्थान प्राप्त है जो वैदिक शिल्प की अन्यतम विशेषता है। ऋग्वेद संहिताओं में माता द्वारा पुत्र के वस्त्र बुनने की चर्चा करते हुये कहा गया है कि माँ अपनी सन्तति (पुत्र-पुत्री) के आयुष्यवर्धन हेतु वस्त्र बुनती है- वस्त्रा पुत्राय मातरो वियन्ति।[४७] अथर्ववेद में एक अन्य स्थल पर कहा गया है कि माता द्वारा बुने हुए वस्त्र का ताना ऐश्वर्य देने वाला एवं बाना पुष्टि देने

---

[४१] सीव्यत्वप सूच्याच्छिद्यमानया। अथर्व. ७.४८.१.

[४२] यजु. ३०.१२

[४३] वही ३०.९.

[४४] अथर्व. ७.४८.१ ६४.

[४५] ऋ. २.३२.४.

[४६] यजु. ३०.१२

[४७] ऋ. ५.४७.६.

वाला होता है।[४८] वहीं दूसरे मन्त्र में कहा गया है माता के स्नेह से भीगा हुआ (बुना हुआ) वस्त्र दीर्घ आयु प्रदायक, स्वस्तिप्रद एवं अनिष्टों का नाशक होता है।[४९]

शिल्प कौशल के साथ मानवीय भावनाओं का यह मिलन वैदिक शिल्प-विज्ञान को अद्वितीय बना देता है। इस प्रकार हम पाते हैं कि वैदिक संहिताओं में सूत्र निर्माण से लेकर वस्त्र निर्माण उनकी पेशकारी, रङ्गाई के अनेक सन्दर्भ प्राप्त होते है वस्त्र निर्माण की प्रौद्योगिकी का मध्यकालीन भारत में एवं अठ्ठारहवी सदी तक के इतिहास में अत्यन्त गौरव पूर्ण उल्लेख प्राप्त होता है। भारत का निर्मित मलमल सम्पूर्ण विश्व में आश्चर्य का विषय बना हुआ था। उस हस्तकौशल के मूल में वैदिक प्रेरणाऐं ही विद्यमान थी।

---

[४८] अथर्व. २.१३.३

[४९] अथर्व. २.१३.२

प्रकाशक

स्वामी समर्पणानन्द वैदिक शोध संस्थान

गुरुकुल प्रभात आश्रम, टीकरी, भोला, मेरठ- २५०५०१

अणुवाक्: pavamani86@gmail.com